

ॐ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गी जयतः ॥



सबोंकुष्ठ धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक । सब धर्मों का श्रेष्ठ रोलि से पालन करते जीव निरन्तर ।
भक्ति अधोक्षेत्र की अहंतुकी विष्वशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु इरि कथा-प्रीति न हो, अम व्यर्थ समी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष १ } गौराब्द ४६६, मास—गोविन्द १७, वार—अनिरुद्ध { संख्या १०
बुधवार, ३० फाल्गुन, सम्वत् २०१२, १४ मार्च १९५६ }

श्रीमद्भक्तिविनोददशकम्

अमन्दकारुण्यगुणाकारश्रीचैतन्यदेवस्य दयावतारः ।
स गौरशक्तिर्भविता पुनः किं पदं हशोर्भक्तिविनोददेवः ॥१॥

श्रीमज्जगन्नाथप्रभुप्रियो य एकात्मको गौरकिशोरकेन ।
श्रीगौरकारुण्यमयो भवेत् किं नित्यं स्मृतौ भक्तिविनोददेवः ॥२॥

जो परम करुणाके आकार श्रीचैतन्यदेवकी दयाके अवतार हैं, वे गौरशक्ति श्रीमद्भक्तिविनोददेव क्या पुनः हमारे नयनगोचर होंगे ? ॥१॥

जो श्रीजगन्नाथ प्रभुके परम प्रिय अनुगामी (शिष्य) हैं और श्रीमद्गौरकिशोर देवके अभिन्न-आत्मस्वरूप हैं, वे श्रीगौर-करुणाशक्ति श्रीमद्भक्तिविनोद देव क्या नित्यकाल हमारे स्मृतिगोचर रहेंगे ? ॥२॥

श्रीनामचिन्तामणि-सम्प्रचारै—
आदर्शमाचारविधौ दधौ यः ।
स जागरूकः स्मृतिमन्दिरे किं
नित्यं भवेद् भक्तिविनोददेवः ॥३॥

नामापराधै रहितस्य नाम्नो
माहात्म्यजातं प्रकटं विधाय ।
जीवे दयालुभविता स्मृती किं
कृतासनो भक्तिविनोददेवः ॥४॥

गौरस्य गूढप्रकटालयस्य
सतोऽसतो हर्षकुनाळ्ययोश्च ।
प्रकाशको गौरजनो भवेत् किं
स्मृत्यासपदं भक्तिविनोददेवः ॥५॥

निरस्य विज्ञानिह भक्तिगांगा—
प्रवाहनेनोद्भूतसर्वलोकः ।
भगीरथो नित्यविषयं पदं किं
भवेदसौ भक्तिविनोददेवः ॥६॥

विश्वेषु चैतन्यकथाप्रचारी
माहात्म्यशंसी गुरुवैष्णवानाम् ।
नामप्रहादर्शं इह स्मृतं किं
चित्ते भवेद् भक्तिविनोददेवः ॥७॥

प्रयोजनं सञ्चभिदेयभक्ति—
सिद्धान्तवान्या सममत्र गौर—
किशोर सम्बन्धयुतो भवेत् किं
चित्तं गतो भक्तिविनोददेवः ॥८॥

शिक्षास्मृतं सज्जनतोषणीक्षा
चिन्तामणिक्षात्र सजैवधम्मम् ।
प्रकाश्य चैतन्यप्रदो भवेत् किं
चित्ते धूतो भक्तिविनोददेवः ॥९॥

जिन्होंने श्रीनाम चिन्तामणि के प्रचारके साथ-ही-
साथ आचारके विधियोंका आदर्श स्थापन किया है, वे
श्रीमद्भक्तिविनोददेव क्या हमारे स्मृति-मन्दिरमें
सदा-सर्वदा जागरूक रहेंगे ? ॥३॥

जिन्होंने नामापराधोंसे रहित श्रीनामके माहात्म्य-
समूहको प्रकाशित कर परम जीव-दयालुताका परिचय
दिया है, वे श्रीमद्भक्तिविनोददेव क्या हमारे स्मृतिरूप
सिद्धान्तपर विराजमान होंगे ? ॥४॥

जिन्होंने श्रीगौराङ्गदेवके निगृह आविर्भाव-क्षेत्रको
(जन्म-स्थानको) प्रकाशित कर सज्जनोंका हर्ष एवं
दुष्टोंकी कुटिलताको एक ही साथ जगत्‌में प्रकाशित
किया है, वे गौरजन श्रीमद्भक्तिविनोददेव क्या
हमारी स्मृति के विषयीभूत होंगे ? ॥५॥

जिन्होंने भक्तिमार्गके कण्ठकसमूहको दूरकर भक्ति-
रूपी गंगाकी धारासे निखिल लोगोंका उद्धार किया
है, वे भक्ति-भागीरथीको लाने वाले भगीरथ स्वरूप
श्रीमद्भक्तिविनोद क्या हमारी नित्य धारणा के विषय
हो सकेंगे ? ॥६॥

जिन्होंने जगत्‌में सर्वत्र श्रीचैतन्यदेवकी कथाओं-
का प्रचार किया है, गुरु और वैष्णवोंकी महिमाको
प्रकाशित किया है तथा श्रीनाम प्रहण करनेका आदर्श
दिखलाया है, वे श्रीमद्भक्तिविनोददेव क्या हमारे
हृदयमें स्मृत (स्मरण) रहेंगे ? ॥७॥

जो स्वयं प्रयोजनतत्त्व-स्वरूप हैं, क्या वे श्रीमद्भक्तिविनोददेव, गौरकिशोर रूप सम्बन्धतत्त्वके साथ
मिलकर अभिदेय-तत्त्व श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वतीके
साथ हमारे चित्तमें उदित होंगे ? ॥८॥

जिन्होंने सज्जन-तोषणी (पत्रिका) चैतन्यशिक्षास्मृत
श्रीहरिनाम चिन्तामणि और जैवधर्म आदि ग्रन्थोंकी
रचनाकर उनके द्वारा जीवोंको चेतनाका दान किया
है, वे श्रीमद्भक्ति विनोददेव क्या हमारे हृदयमें पकड़े
जा सकेंगे ? ॥९॥

आपाददर्शेऽहनि गौरशक्ति--
गदाधराभिन्नतनुर्जही यः ।
प्रपञ्चलीलामिह नो भवेत् कि,
हृशः पुनर्भक्तिविनोददेवः ॥१०॥

जिन्होंने अपादकी अमावस्या तिथिमें गौरशक्ति गदाधर परिष्ठित गोस्वामीके अभिन्नरूपमें (उन्हींके तिरोभावके दिन) अपने प्रपञ्चलीलाका परित्याग किया है, वे श्रीमद्भूमक्तिविनोददेव क्या पुनः हमारे हाँच-गोचर होंगे ? ॥१०॥

(श्रीगौडीग पत्रिकासे उद्धृत)

—३८—

दैष्णव-दर्शन

मायावादियोंके भ्रांतिपूर्ण दर्शनमें जगत् मिथ्या है

मायावादी वस्तुका दर्शन करने जाकर मायाके आश्रयमें केवल हृश्यका ही दर्शन करते हैं । व्यवहारिक परिचयका मिथ्यात्व प्रचल होकर उनको वस्तुका दर्शन नहीं करने देता । खण्ड ज्ञानी, खण्ड ज्ञानके द्वारा सत्य वस्तुका दर्शन नहीं कर पाते । खण्ड या आंशिक विचार उनको नित्य सत्य ज्ञानसे दूर हटा देता हैं । इसलिये वे भ्रमवशात् अपनेको खण्ड वस्तुका द्रष्टा और खण्ड वस्तुकी प्रतीतिको मिथ्या मानते हैं ।

जगत् मिथ्या नहीं—नश्वर है, यह माया शक्तिसे उत्पन्न हुआ है

तत्त्वज्ञ व्यक्ति जगत्को मिथ्या नहीं मानते, बल्कि वास्तव वस्तुका वास्तव खण्ड प्रतीति होनेके कारण इसे तात्कालिक या नश्वर कहते हैं । जो नापातीला जा सके, जो संख्या या सीमा द्वारा बद्ध किया जा सके उसे मायाका सङ्कोचधर्मयुक्त कार्य समझना चाहिये । द्रष्टा जब तत्त्वको भूलकर मायाकी सहायतासे वास्तव वस्तुका दर्शन करता है तभी जड़ता पकड़ लेती है । तब वह अपनेको विषय और हृश्य वस्तुको आश्रय, आलम्बन, या दर्शनका आधार

समझने लगता है । माया वस्तुकी एक शक्ति है । वही शक्ति वस्तु द्वारा परिचालित होकर वस्तुके नानात्व-व्युत्पन्नका दर्शन कराती है तथा उनमें परस्पर भेद का भी प्रदर्शन करती है । माया शक्ति जब द्रष्टा जीवकी अस्मिताके ऊपर कार्य करनेका अवसर पाती है तभी उनकी अस्मिताको बुद्धिके रूपमें बदल देती है । फिर बुद्धि बदलकर अहङ्कार, और अहङ्कार इन्द्रियाधिपति मनके रूपमें बदल जाता है ।

तत्त्ववादी मध्वका शुद्ध विचार

मायावादी मायाका आश्रय कर भेद-ज्ञानसे युक्त होकर कहते हैं कि द्रष्टा, हृश्य और दर्शनमें कोई भेद नहीं है । वे वस्तुमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद भी स्वीकार नहीं करते किन्तु तत्त्ववादी(मध्वाचार्य) अद्वयज्ञानका आश्रयकर तत्त्व वस्तुको भगवान् कहते हैं तथा वे भगवान्में सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद स्वीकार करते हैं । इनका कहना है—भगवान्में इन भेदोंको उत्पन्न करने वाली पूर्ण और उपादेय शक्ति, नित्य विराजमान है । तत्त्ववादी अद्वयज्ञान द्वारा ब्रह्म और परमात्माका भगवत् तत्त्वसे पृथक नहीं दर्शन करते । वे तत्त्ववस्तुको सच्चिदानन्द विषय तत्त्वके रूपमें दर्शन करते हैं । विष्णुतत्त्वमें स्वगत लीलामय नित्य विचित्रता है; चित् जगत्में चित्-शक्तिका बहुविषय मकाशही स्वजातीय भेद है तथा

अचित् शक्ति परिणत वहिंगनमें विजातीय भेद दृष्टिगो चर होता है। वस्तु और उनकी शक्ति अभिन्न होनेपर भी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे विष्णुमें ही चित् प्रकाशकारिणी और अचित् सर्गको उत्पन्न करने वाली—चित् और अचित् दोनों शक्तियाँ नित्य वर्तमान रहती हैं। केवल मायावादियोंका कालगणक मायिक दर्शन ही वेदान्त-दर्शन नहीं है, बल्कि वेदान्त-दर्शनमें विष्णु ही चित्, अचित् और ईश्वर—भिन्न-भिन्न तीन अवस्थाओंमें स्थित दिखलाई पड़ते हैं।

वैष्णव-दर्शनमें विष्णु, वैष्णव और जगत् में परस्पर नित्य भेद है

अतिका कथन है—“तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूर्यः।”—दिव्यसूरिगण—नित्यमुक्त या दिव्यज्ञानी व्यक्ति दृश्य वस्तुको सर्वदा, नित्यकाल विष्णुके परमपदके रूपमें दर्शन करते हैं। वे कभी भी अनुपादेय जड़ीयकाल और देश से विच्छिन्न अचित् दर्शन द्वारा विष्णुत्व या वस्तुत्वको सीमित या आवद्ध नहीं करते। विष्णु शक्ति परिणत चित् या अचित् वस्तुके प्रतीतिको विष्णु नहीं कहते तथा विष्णुके अतिरिक्त उनकी प्रतिष्ठा भी स्वीकार नहीं करते। विष्णुका सम्बन्ध जहाँ उन्मुख होता है—तदूबस्तुके उस प्रतीति या वस्तुसत्ताको ‘चित्’ कहते हैं और विष्णु-विमुख तदूबस्तुकी प्रतीति या वस्तुसत्ताको ‘अचित्’ संज्ञा देते हैं। इस प्रकार चित्, अचित् और विष्णु या ईश्वर—इन तीनोंमें नित्य भेद दर्शन करनेके कारण दिव्य सूरिगण अर्थात् वैष्णवजन चहुईश्वरवादी नहीं हैं। वे एकेश्वर विष्णवस्तुका ही दर्शन करते हैं। विष्णु तदस्तु हैं और वैष्णव तदीय वस्तु हैं।

विष्णु और वैष्णवका सम्बन्ध नित्य सेव्य और सेवकका भाव है

विष्णु और वैष्णव दोनों नित्य ‘शक्तिमान् और शक्तिपरिणत’ अथवा ‘विषय और आधय’ के रूपमें

नित्य-रसके उपादान हैं तथा अन्योन्य सम्बन्ध युक्त हैं। दोनोंकी सेव्य-सेवन वृत्ति नित्य है, वृत्ति काल की सीमासे परे होनेके कारण विनाशी नहीं, अविनाशी और अनादि है। जड़ काल विष्णु और वैष्णवोंके ऊपर अधिष्ठित्य करनेमें असमर्थ है। नित्य-शक्तिमान् विष्णुका दर्शन न करनेके कारण मायावादियोंका अस्तित्व अनित्य और काल द्वारा छुव्य है। किन्तु वैष्णवोंकी स्थिति नित्य है—उनका दर्शन नित्य है, वह काल के प्रभावसे परिवर्तन योग्य नहीं होता।

चित्-जगत्, जड़जगत् और जीव—सभी वैष्णव तत्त्व हैं

चित् जगत् और जड़ जगत्की प्रत्येक वस्तुमें विष्णुका अविष्ट्रान् वर्तमान रहनेसही उनका अस्तित्व है। अतएव वे सभी वैष्णव हैं। चेतनमय सर्ग—जो जड़ जगत् में बद्धावस्थामें दिखलाई पड़ता है, प्रकृति से सम्बन्ध युक्त होता है तथा विष्णु सेवासे विमुख होनेके कारण गुणके अन्तर्गत होता है। प्रकृतिके अतीत राज्यमें मुक्तावस्थामें विष्णुका जो चित् सर्ग है—वहाँ मायाका कोई प्रभाव नहीं होता। इस जगत् में जीव मात्र वैष्णव है। किन्तु जड़वस्तु और जड़ विषय भोगोंमें मत्त होकर हरिविमुखता और जड़ विषयोंके भोक्ताके अभिमान हेतु अपना स्वरूप त्यूनाधिक भूल जाता है।

वैष्णवोंके तीन अधिकार—साधारण, मध्यम और उत्तम

वैष्णव अधिकार तीन प्रकारका होता है—साधारण, मध्यम और उत्तम। साधारण अधिकारमें केवल विष्णुभगवान् ही उनके सेव्य होते हैं। इस अधिकारमें निहिंदु उपकरण-समूह द्वारा भगवान्के अर्चादिग्रह—मूर्ति आदिका अर्चन-पजन ही प्रधान लक्ष्य होता है। अधिकारमें उन्नति होनेपर वे भगवद्वक्तोंके कायमनोवाक्य तथा भगवद्वर्चन—दोनों जगहोंमें विष्णुका दर्शन करते हैं। ऐसी अवस्थामें (मध्यम

अधिकार में) प्रेमी भक्तोंके प्रति उनका स्वाभाविक नचि तथा विष्णुके विमुख—विद्वेषियोंका सङ्ग परित्याग करनेमें उनका यन्त्र-आश्रद् देखा जाता है। उत्तम अधिकारमें स्थूल शरीर द्वारा विषय भोग करनेकी स्पृहा विलकुल नहीं रहती। वे जड़ वस्तुओंको अपने भोगकी भास्त्रों नहीं समझते—उन्हें भगवत्-सेवा स-न्धी वस्तुके रूपमें दर्शन करते हैं। रक्ति-परिणत समस्त हृश्य वस्तु और वैष्णव विष्णुसे अभिन्न हैं। जगत्‌की सभी वस्तुएँ विष्णुमें अवस्थित हैं और वे सभी विष्णुकी सेवाके उपकरण हैं।

सामाजिक अपम्प्रदायिक वैष्णवनामधारी

व्यक्ति वैष्णव नहीं हैं

आजकल वैष्णव कहनेसे समाजके जिस वर्ग या साम्प्रदायका लक्ष्य किया जाता है, वास्तवमें वैष्णवकी संज्ञा वैसे सामाजिक वर्गमें ही आवद्ध नहीं है। जो नोति और पुण्यसे रहित हैं, शिक्षा-मन्दिरोंसे जिनहीं चिरशङ्कुना हैं, जो ग्रन्थ-वर्णका भेद कभी स्वीकार करते हैं और कभी नहीं भी करते, जो मरे हुए लोगोंके शयदाह सत्कारके समय भावे पर कीर्तन आदि द्वारा अपनी जीविका निर्वाह करते हैं, वर्णात्रिमका परित्याग कर उच्छ्वासलतासे जीवन व्यतीत करते हैं, वैयसामाजिक व्यक्ति जिनके नैतिक चरित्रपर सदा कठाह करते हैं और जो संयोगी, जाति वैष्णव, जाति गोसाई, जाति वैरागी आदि नामोंसे परिचित हैं—इन्हीं लोगोंके बीच वैष्णव-संज्ञा आवद्ध नहीं है।

वंश-परम्परागत और व्यवसायीगुरु अथवा

अधिकारीगुरु वैष्णव नहीं हैं

अथवा जो इन जाति वैरागी और जाति वैष्णव के गुरु और पौरोहित्यका कार्य करते हैं, मन्त्रके व्यवसाय द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं, जो धर्म उपदेश, शास्त्र-पाठ, प्रवचन, कीर्तन तथा विप्रह-व्यवसाय द्वारा अर्थोपार्जन, करते हैं जो अपनी इन्द्रियोंका संयम न कर विषय-भोगोंकी चेष्टाओंको ही हरि-सेवा समझते

हैं अथवा जो गोस्वामी-सन्तान हैं, वैरागी-सन्तान हैं, अधिकारी हैं, आचार्य या गुरु-सन्तान हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें ही वैष्णव-संज्ञा आवद्ध नहीं है।

निर्विशेष मुक्तिवादी वैष्णव नहीं हैं

हिन्दू समाजके भिन्न-भिन्न वर्णोंमें परिचय देकर विष्णुमन्त्रसे दीक्षित होकर वंश परम्परागत वैष्णव धर्मावलम्बी या पञ्चोपासक लोग जो निर्विशेष मुक्तिके विवासी हैं—केवल वे ही लोग वैष्णव संज्ञा के अधिकारी हैं—ऐसी बात नहीं है।

आखाड़ाधारी बाबाजी और संन्यासी भी

वैष्णव नहीं हैं

होण-कोपीन आदि संन्यासीवेषोंसे सज-धजकर वैव संसारकी विधियोंकी निष्ठा करने वाले, आखाड़ा, मठ, देवालय, और सत्सङ्ग आदिमें रहने वाले, शास्त्र-प्रबन्धोंका देखनेमें विशुद्ध, अथव विषय भागको फलगुनदी जिनके हृदयमें धीरे-धीरे प्रवाहित होती रहती है,—केवल वैसे व्यक्ति ही वैष्णव संज्ञा लाभ करनेके अधिकारी नहीं हैं।

वैष्णव-संज्ञाका परिचय

कृष्णसेवाकी उमुखता ही वैष्णवताका मुख्य लक्षण है। कृष्णसेवाके लिये ही जिनकी अखिल चेष्टाएँ होती हैं, जो भगवान्‌की सेवामें सर्वात्मा द्वारा सदा-सर्वदा नशुक हैं, जो कायमनोवाक्य द्वारा हरि-सम्बन्धी वस्तुओंको तथा हरि-सेवाके उपयोगी मानसिक चेष्टाओं (क्रियाओं) के द्वारा किसी भी अवस्थामें रहकर भगवान्‌का अनुशीलन करनेमें तत्पर रहते हैं, जो हरि-सेवाके बदले अर्थ, धर्म, काम या मोक्षकी कामना नहीं करते, वे उपरोक्त किसी भी नामसे परिचित क्यों न हों, वे ही यथार्थ वैष्णव हैं। समस्त सद्गुणावलि वैष्णवोंमें ही स्थायी रूपसे वास करती है। अवैष्णव लोगोंमें सद्गुणोंका स्थायी रूपमें वास करनेका अवकाश नहीं। वैष्णवोंकी महती प्रतिष्ठा देखकर स्वयं उस प्रतिष्ठाके लोभसे बहुतेरे

बैष्णव-संज्ञाके योग्य नहीं होनेपर भी अपनेको बैष्णव कहते-कहलवाते हैं। प्रकृत बैष्णवोंके वृत्तिगत सदाचारमें हम दो बातें प्रधानरूपसे लक्ष्य करते हैं—
(१) बैष्णव अपनेको विष्णुका नित्यदास समझते हैं। (२) वे खी-सङ्गीनहीं होते।

बैष्णवोंके नित्य सद्गुण

बैष्णव कृपालु, क्षमाशील, सत्यप्रिय, समदर्शी, निर्दोष, बदान्य अर्थात् परम उदात्त, मृदु, शुचि, अकिञ्चन, सर्वोपाकारक, शान्त, कृष्णकशरण, निरोह, स्थिर, पद्मगुणजयी (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मानसर्य अथवा कुधा, तृष्णा, भय, दंभ, जरा, मृत्यु—इन दोनों प्रकारके पद्मरिपुओंपर विजय प्राप्त करने वाला), मिताहारी, अप्रमत्त अर्थात् दंभहीन, मानद (दूसरोंको मान देनेवाला), अमानी (स्वयं मानकी कामनासे रहित, गम्भीर, करुण, मैत्र (बन्धु भाव युक्त), कवि, निषुण, एवं मौनी होते हैं। बैष्णवोंमें ये समस्त सद्गुण-समूह सर्वदा वास करते हैं। फिर भी अबैष्णव लोग बैष्णवोंको देखकर भी उनके गुणोंको परख नहीं पाते।

सहजिया बैष्णवका कपट दैन्य

अक्सर बैष्णवका निष्कपट दैन्य न समझ सकने के कारण सरल मानव उन्हें कपट दैन्यकी शिक्षा देना चाहते हैं। ये लोग अबैष्णवोंके भाव समूहको ही बैष्णवता के रूपमें विश्वास करते हैं। अतः प्रकृत बैष्णवको भी बैष्णव विरोधी अबैष्णव भाव-समूह की शिक्षा देनेका प्रयास करते हैं। बैष्णव और अबैष्णवके क्रिया-कलाप तथा भावोंका पार्थक्य न समझनेके कारण ही ऐसा भूल होता है। जब तक स्वयं बैष्णव न हुआ जाय—प्रकृत बैष्णवोंका स्वरूप बूझ लेना साधारण मनुष्योंके लिये सम्भव नहीं है। इनका विना समझे बूझेही अबैष्णव भावनाओंको हृदयमें भरकर, विश्वप्रेमकी गलत धारणासे परिचालित होकर उदारताके परम आदर्श बैष्णवको साम्प्रदायिक मान कर उन्हें शिक्षा देनेके बदले अपनी संकीर्णताका ही परिचय देते हैं।

—ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

प्रवृत्ति और निवृत्ति

प्रवृत्ति और निवृत्ति मानव-जातिका एक प्रधान आलोच्य तत्त्व है

जिस समयसे मानव-जातिकी सृष्टि हुई है, प्रवृत्ति और निवृत्तिका विचार उसी समयसे चलता आरहा है। सभी देशोंमें सभी कालोंमें इन दोनों विषयोंकी आलोचनाएँ होती रही हैं। स्वदेश और विदेशमें जितने प्रकारके लिखित शास्त्र देखनेमें आते हैं, वे सभी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी आलोचनाओंसे परिपूर्ण हैं। आर्य जातिके वैदिक शास्त्र, मुसलमानोंका कुरान, ईसाईयोंका बाइबिल तथा बीड़ोंका बेद-चिरुद्ध व्या-

क्यान-समूह—इसके प्रमाण हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति का विषय मानव जातिका एक प्रधान तत्त्व है—यह पूर्णक्त विशद आलोचनाओंसे ही प्रतीत होता है। जब सभी समयोंमें तथा सभी देशोंमें किसी विषयकी आलोचना दृष्टिगोचर होती है, तो उस विषयके सत्यमूलक होनेमें सम्बद्ध ही क्या है?

आत्माके अमरतत्वमें विश्वास होना स्वाभाविक है

‘मृत्यु होनेके बाद कोई लौटकर नहीं आया। अतएव शरीर ही आत्मा है। मरणके बाद इसका कोई

अस्तित्व नहीं है।'—कुछ लोगोंका ऐसा विचार है। ऐसी अवस्थामें जीवके शरीर त्याग करनेपर भी अस्तित्वका अभाव नहीं होता —इसका प्रमाण क्या है? सर्वत्र जनसाधारणमें इस विश्वासकी व्याप्तिही इसका प्रमाण है। उत्तराधिवके किसी व्यक्तिका उस विषयमें दक्षिणीध्रुवके किसी व्यक्तिसे गतभेद नहीं है। आत्माका अमरत्व सभी देशोंमें सभी कालोंमें समान रूपसे स्वीकार किया गया है। यद्यपि बहुतसे शुष्क ताकिं अपना असत् आलोचना द्वारा स्वतः रिढ़ आत्माकी अमरत्वाका विश्वास परित्याग कर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं तथापि इनकी संख्या इतनी कम है कि उनके द्वारा विश्वके इस साधारण विश्वासमें कोई अन्तर नहीं आता। इस आर्य प्रदेशमें चार्वाक आदि तथा दूसरे-दूसरे देशोंमें सारडनेप्लस आदि बहुतसे अनिस्यवादी पापरडी उत्पन्न हुए हैं, फिर भी आत्माके अमरत्वके प्रति साधारण लोगोंका जो स्वभाविक विश्वास है उसका उच्छेद न हो सका।

प्रवृत्ति और निवृत्तिकी आलोचनाकी प्रस्तावना

परमेश्वरके अस्तित्व और जीवोंकी नियतामें एहु विश्वास आदि जो साधरणतः स्वतः सिद्ध विषय हैं उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति विषयक तत्त्वभी एक प्रधान विषय है। बहुत दिनोंसे इस विषयके विचार लिपिवद्ध होकर परम्परासे हमलोगोंको प्राप्त हुए हैं। अनिल वेद भी दो भागोंमें विभिन्न होकर कर्म-काण्ड तथा ज्ञान-काण्डको प्रकाश कर रहा है। इन विषयोंकी आलोचना नीचेकी जायगी। इस विषयकी आलोचना करना विशेषरूपसे आज क्यों आवश्यक है—इसके सम्बन्धमें कुछ लिखा जा रहा है।

आठ-दस शताब्दी पूर्व भारतकी अवस्था

अभी एक हजार वर्ष भी नहीं बीते कि आर्य विरोधियोंने हमरी पवित्र आर्यभूमिपर अपना आधिपत्य कर लिया था। इनकी भाषा, स्वभाव, चरित्र तथा धर्म—इस देशके लिये अत्यन्त विरुद्ध होनेके कारण हमारे पूर्वजोंको बहुत ही कष्ट भेजने पड़े थे। विदे-

शियोंके स्वभावतः तथा धर्मतः निष्ठुर होनेके कारण इस देशकी सभी संस्कृतियोंका हास होने लगा। जिस देशमें आदि-कवि वाल्मीकि तथा ज्ञानीश्वेत वेदव्यास ने सहज संस्कृत भाषामें मित्र-मित्र मधुर छन्दोंमें अनेक उत्तम प्रन्थोंकी रचना कर मनुष्योंका ऐहिक और पारलीकिक मङ्गल साधन किया था, जिस देशमें हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर जैस धार्मिक राजा हुए जिन्होंने ग्रन्तके हितके लिये अपना सब कुछ लुटा दिया था, जिस देशने साधित्री, अरुण्यती, वृन्दा आदि महान् सतियोंको जन्म दिया था, वही भुवन विजयी भारत के कुछ लोग खड़गधारी म्लेच्छोंके पैरोंतले जिस तरह रीढ़ा गया—उसका बर्णन नहीं किया जा सकता।

प्राचीन भारतकी दुर्दशाके कारण नाना प्रकारके

अधर्मोंकी उत्पत्ति

वेदशास्त्र लुप्त हो गये, ज्ञान गुप्त हो गया, और आर्य चेतनता श्रीतकालके सर्पके समान निद्रितसी हो गई थी। ब्राह्मणोंका तर्क बड़ी-बड़ी पुस्तकोंकी मुहाओंमें छिप गया। लक्ष्मियोंका शौर्य-वीर्य केवल शयनागारमें प्रियाम करने लगा। दूसरी-दूसरी जातियोंके लोग अपने धर्मोंके आचरण द्वारा जीविका निर्वाह करनेमें असमर्थ होकर वेद-विधियोंका परित्याग करने लगे। यद्यपि ऐसे आपत्तिकालमें बहुतोंके लिये निवृत्ति धर्म ही अवलम्बनीय होता है, तथापि कर्मकलके अनुसार बहुतसे आर्य-वंशावार वैदिक-धर्मका परित्याग कर नाना प्रकारके स्वक्षेपकलिपत उपधर्मोंकी सृष्टिकर उसीके अनुसार समय बिताने लगे।

अँग्रेजी शासनमें भारतीय नवयुवकोंका

अधिपतन

इस देशमें अप्रेजोंके आगमनसे हम कुछ बातोंमें सुखी जान पड़े। परन्तु कोई घटना अमिश सुख नहीं दे सकती। अँग्रेजी शासनसे जहाँ हमें कुछ सुख लाभ हुआ, वहाँ अनेक विषयोंमें हमारा पतन भी

हुआ। अंग्रेजोंने अपनी भाषाके माध्यमसे नाना प्रकारके वैज्ञानिक आविष्ट-रोंसे बहुत ही ख्यति प्राप्त की। यहाँके नवीन सम्प्रदायोंने उनकी भाषा स्थीखकर, उनके द्वारा आविष्ट कृत वायुयान, रेलगाड़ी, रेडियो जैसे यन्मोंसे प्रभावित होकर उन्हें अपना गुरु मान लिया। इनसे बहुतसे भयहड़ दोष उत्पन्न हो गये। आर्य भाषा एवं उसमें लिपिबद्ध विशाल तथा निर्मल ज्ञान-विज्ञान प्रायः लुप्त होने लगे। इसे महज ही प्रमाणित किया जा सकता है। किसी अँब्रेजी-साहित्यके वाय्यापकसे परग पूजनीय बेदोंके सार स्वरूप साज्जात् सामवेद-रूपी श्रीमद्भागवतकी बातें पूछने पर वह या तो हँसकर उड़ा देगा अथवा पुरानी पोशो कहकर ताखेपर रख देनेके लिये कहेगा। श्रीमद्भागवत के आध्यात्मिक परम रमणीय अप्रकृत वर्णनोंके मूल-तत्त्वोंको समझनेमें असमर्थ होकर वह उसकी गणना कामुकता बढ़ाने वाली अस्तील पुस्तकोंमें करता है। हाय ! कैसी मूर्खता है ! इन सब छोकड़ोंने अपनी संख्या बढ़ाकर दलबलके साथ कई उपर्योगका स्थापन भी कर लिया है। जैसा भी हो पाश्चात्य भौतिक-विज्ञान ही मनुष्य जातिका प्रकृत द्वेष्य है—पाश्चात्योंके मानस पुत्र हमारे अधिकांश नवीन शिक्षा-मण्डित परिषद आज भी इसी धारणाको अपनी छातीमें चिपकाये हुए हैं। वे अब भी अग्राकृत तत्त्वोंको स्वानुवात मानकर इनकी अचहेला करते हैं। इसमें अंग्रेजोंका दोष ही क्या है ?

बाइबिलका निवृत्ति-मार्ग तथा आधुनिक विज्ञानके प्रभावसे प्रवृत्ति-मार्गकी प्रधानता

इस ऐतिहासिक परिस्थितिका उल्लेख करनेका तात्पर्य यह है कि पाठक इस बातको अनुभव कर सकें कि पाश्चात्योंके संसर्गसे हम आर्य वंशधर भी आज निवृत्ति तत्त्वोंको अग्राह्य समझने लगें हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंमें प्रवृत्ति मार्गको ग्रहण करने योग्य बतलाकर निवृत्ति मार्गको पूर्वकालका भ्रम समझकर परित्याग कर दिया है। जैसा सङ्ग होता है

तदुनुरुप जीवोंके विचार, सिद्धान्त और स्वभाव हो जाते हैं। शास्त्रोंमें इसके अनेक प्रमाण हैं। आज पाश्चात्योंने भौतिक विज्ञान तथा मनोविज्ञानकी दर्शनी कर प्रवृत्ति-मार्गको ही भगद्वामका एक मात्र पथ स्थीकार किया है। 'आज' शब्दका उल्लेख करनेका तात्पर्य यह है कि उनलोगोंके अवतार पुरुष या धर्मगुरु यीशुने अपने प्रकाशित धर्ममें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति मार्गोंको स्थीकार करते हुए भी निवृत्ति मार्गका श्रेष्ठत्व स्थापन किया है।

महात्मा योशु द्वारा निवृत्ति मार्गका उपदेश

एक बार किसी व्यक्तिने महात्मा यीशुसे पूछा— 'गुरो ! बहुत दिनोंकी आनु पानेके लिये मुझे वया करना चाहिये ?' यीशुने कहा—'यदि सांमारिक धर्मोंका पालन करते हुए भी ऐसा प्रश्न करने हो, तो तुम अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर उसे दरिद्रोंको दान कर दो और मेरे अनुगामी धन जाओ।' उस व्यक्तिके ऐसा न करने पर यीशुने अपने शिष्योंसे कहा—'देखो, विषयी लोगोंके लिये वैकुण्ठकी प्राप्ति अत्यन्त कठिन है। जिसने मेरा अनुगामी होनेके लिये अपने माता-पिता, बी-पुत्र, भाई-बहिन, तथा बन्धु-बान्धवोंका परिपरित्याग किया है, उसीको अधिक लाभ होगा। और वही अनन्त आयुका अधिकारी होगा।'

वर्चमान ईसाईलोग यीशुके मतके

विरोधी हैं

महात्मा यीशुके ऐसे ही अनेक उपदेश हैं। वे एक त्यागी पुरुष थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। आजकल जो ईसाई धर्मकी शिक्षा दी जाती है, वह बास्तवमें यीशुकी शिक्षा नहीं है। यदि ऐसा न होता तो अपनेको ईसाई कहनेवाली पाश्चात्य जातियाँ राज्यके लोभमें असंख्य असंख्य प्राणियोंका वध करना स्थीकार नहीं करती। युद्धकरना एक पशु-बृत्ति है। अतएव वह वैराग्यधर्मकी विरोधिनी है—इसमें सन्देह नहीं।

प्रोटेस्टैंट लूथरका प्रवृत्ति-मार्ग यीशुका विशुद्ध मौलिक विचार नहीं है

क्या यीशुके इन उपदेशोंसे निवृत्तिमार्गकी श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होती ? इस तरह अँग्रेज लोग क्या इंसाइ धर्मसे छुत नहीं हुए ? केवल प्रवृत्ति मार्ग ही श्रेष्ठ है—ऐसा सभी नहीं कहते—यह बात ठीक है, किन्तु लूथर नामक किसी धर्म संस्कारके अनुयायी ही निवृत्तिमार्गके विरोधी हैं। लूथरके समयसे उन्होंने प्रवृत्ति-मार्ग को ही उपासनाके लिये स्वीकार किया है। वर्तमान समयके प्रोटेस्टैंट लोग संन्यासी और त्यागीयोंको भ्रान्त कहते हैं। किन्तु रूस, फ्रांस आदि देशोंमें लूथरके मतका विशेष रूपसे आदर न होनेके कारण वहाँके पादरी लोग हमारे संन्यासियों तथा त्यागियोंके समान स्त्री-संभोगका परित्याग कर निःसङ्ग भावसे उपासना करते पाये जाते हैं। इस मतको कैथोलिक अर्थात् यीशुका यथार्थ मत कहा जा सकता है। लूथर ने यीशुकी वाणियोंका लक्षण द्वारा मनोकल्पित स्वतंत्र अर्थ करके अपना नया मत चलाया है।

लूथर-पन्थी भारतीय युवकोंके घृणित विचार

हमारे देशमें जैसे शङ्कराचार्यने वेदान्त सूत्र तथा उपनिषदोंका लक्षण द्वारा गौण अर्थ लेकर मायावाद नामक एक असत् मत चलाया है, लूथरने भी ऐसे ही बाइबिलका गौणार्थ करके निवृत्ति-मार्गको भ्रान्त विचार या पथ बतलाकर प्रवृत्ति-मार्गकी ही श्रेष्ठता स्थापन की है। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त हमारे नवीन विद्यार्थी लोग आज भी प्रवृत्ति मार्गकी अधिक पूजा करते हैं। संन्यासियों अथवा त्यागियोंको देखते ही उन्हें बड़ा कष्ट होता है। वे कहते हैं—‘हाय ! ऐसे शक्तिशाली व्यक्ति भी कितने अकर्मण्य हो गये हैं। यदि ये विवाहादि करके हल चलाते या मनदूरी करते तो उससे हमारी बेकारी समस्या हल हो जाती और पृथ्वीका दुःख बहुत कुछ कम हो जाता ।

प्रवृत्ति और निवृत्तिका तारतम्यमूलक निर्भीक विचार तथा उनके चार प्रमाण

ऐसे विचार बाले व्यक्तियोंको हम मुख्य कहते हों—ऐसी बात नहीं है। बल्कि उनमें बहुतसे बड़े बड़े पंडित तथा वैज्ञानिक हैं हम स्वीकार करते हैं। किन्तु रक्त-मांससे बना हुआ मानव भ्रम-रहित नहीं हो सकता। अतएव उनमें भी भ्रम है—इसमें सन्देह ही क्या है ? प्रवृत्ति मार्गके पक्षपातियोंमें बस्तुतः बहुतसे पंडित व्यक्ति हैं। अतएव इस विषयकी विवेचना करनेके लिये श्री-मङ्गलगवतमें कहे गये चार प्रमाणोंका अवलम्बन करना उचित है। चार प्रमाण ये हैं—

‘भूतिः प्रत्यक्षमैतिहासमनुमानं चतुष्टयम् ।’

अखिल शास्त्र, प्रत्यक्ष, इतिहास तथा युक्ति—इन चार प्रमाणोंका अवलम्बन करनेसे विचार निर्दोष होता है। हम किसी विचारका निर्णय करनेके समय किसी मनुष्यके परिणामसे भयभीत अथवा भ्रान्त न होंगे। हम स्वाधीनतापूर्वक विचार करेंगे। परमाराध्य श्रीश्रीचैतन्यदेवने हमलोगोंको उपदेश दिया है—

‘स्वाधीनता रत्न हय ईश्वरे दान ।

ताहारे त्यजिते कमु नारे बुद्धिमान् ॥’

—भगवानने हमें स्वाधीनता नामक एक रत्न दिया है। बुद्धिमान् मनुष्य कभी भी उसको परित्याग नहीं करते—सर्वदा ही उसका उपभोग करते हैं।

सद्युक्ति, शास्त्र, ऐतिहा तथा प्रत्यक्ष प्रमाणोंके आधारपर जो विचार प्रतिष्ठित होगा, वही हमारे लिए परम आदरणीय होगा। शङ्कराचार्य जैसे प्रतिभाशाली पंडित भी यदि इस सिद्धान्तका विरोध करें, तो भी हम उससे विचलित न होंगे। पाश्चात्य पंडितोंका भी ऐसा ही विश्वास है, अतः प्रवृत्ति-मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पाश्चात्य दार्शनिक भी मनुष्य ही हैं। हमारे नवीन शिक्षित आर्य-प्रकाशित निवृत्ति मार्गसे घृणा करते हैं, यह भी उन लोगोंके बहुतसे भ्रमोंमें एक प्रधान भ्रम है। अब मूल विषयका विचार किया जाय । (क्रमशः)

—ॐ विष्णुपाद श्रीमङ्गलक्षिणीद ठाकुर

मायावादकी जीवनी

[पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ६, पृष्ठ २०८ से आगे]

त्रेतायुगमें अद्वयवाद और उसकी परिणति

वसिष्ठ

त्रेतायुगमें वसिष्ठमुनि अद्वैतवादके प्रधान आचार्य थे। वे सूर्यवंशी राजाओंके कुल-गुरु थे। रामचरित मानसमें उनके ज्ञानी मुनि होनेकी एक भलक पायी जाती है। श्रीरामचन्द्रके बन-गमन और पिताकी मृत्यु से शोकातुर भरतको सान्त्वना देते समय श्रीरामचन्द्रके प्रति लक्ष्मणजी और सीताजीकी निर्मल प्रीतिका वर्णन करते-करते गुरु वसिष्ठ जैसे ज्ञानी-मुनि भी प्रेममें मग्न हो जाते हैं—

भरत वसिष्ठ निकट बैठारे ।
नीति धर्ममय वचन उचारे ॥
सोक सनेह मग्न मुनिज्ञानी ।

—(रामचरितमानस)

और जब महाराज दशरथने पुत्रकी कामनासे यज्ञका अनुष्टान किया था, तब उनसे बुलाये जानेपर वसिष्ठ ऋषि भी उस यज्ञस्थलीमें उपस्थित हुए थे। इस प्रसंगमें कीर्तिवासी रामायणमें (बांगला) भी वसिष्ठ मुनि को ज्ञानीमुनि कहा गया है—

वसिष्ठादि आईलेन यत ज्ञानीमुनि ।

अतः वसिष्ठजी एक ब्रह्मज्ञानी ऋषि थे—इस विषयमें कहीं भी कोई मतभेद नहीं दिखलाई पड़ता है। योगवासिष्ठ रामायण इसका अकाल्य प्रमाण है। श्रीमद्भागवतमें उनके सम्बन्धमें जो परिचय मिलता है, यहाँ उसे उद्धृत किया जा रहा है—

'वालिमकीश्च महायोगी वल्मीकादभवत् किल ।
अगस्यश्च वसिष्ठश्च मित्रावरुणयोच्छ्वी ॥
रेतः सिपिचतुः कुम्भे उर्वश्याः सञ्जिधी द्रुतम् ।
रेवत्यां मित्र उत्सर्गमरिष्ट' पिप्लं व्यधात् ॥'

(श्रीमद्भागवत् ६।१८।५-६)

उक्त दोनों श्लोकोंमें प्रथम अर्थात् पाँचवें श्लोक-की टीकामें श्रीधरस्वामीने (श्रीधर स्वामी वैष्णव थे। परन्तु अद्वैतवादी उनको अपने सम्प्रदायका एक प्रधान आचार्य कहते हैं) लिखा है—

वल्मीकात् वल्मीकिवंहणस्यैव पुत्रोऽभवत् । एतौ वरुणस्यासाधारणौ पुत्रौ । तथोत्सर्गाद्यो मित्रस्या-साधारणाः । तथोरेव साधारणौ द्वौ पुत्रौ चाह अगस्त-श्च वशिष्ठश्च ऋषी मित्रावरुणयोरभवताम् ।

अर्थात् स्वामीचरणने भृगु और वाल्मीकि मुनि की वैष्णवता और पाण्डित्य देखकर इन्हें 'असाधारण' पुत्र कहा है। किन्तु वसिष्ठ और अगस्त मुनिको ब्रह्म-ज्ञानी और मायावादी जानकर इन दोनोंकी गणना 'साधारण' पुत्रोंमें की है। द्वितीय अर्थात् छठें श्लोक-में वसिष्ठका जन्मवृत्तान्त वर्णन किया गया है। उर्वशीको देखकर उसके निकट ही वरुणका वीर्य स्वलित हो गया। वरुणने उस वीर्यको उठाकर घड़ीमें रख दिया। उसीसे वसिष्ठका जन्म हुआ था। इस तरह वसिष्ठ उर्वशीके सन्तानके रूपमें प्रसिद्ध हुए। हो सकता है, श्रीधरस्वामीने इसीलिए वसिष्ठमुनिको 'साधारण' पुत्र कहा हो। वसिष्ठमुनि ज्ञानपथमें विचरण करते हुए अपने आश्रममें अपने शिष्योंको निर्भेद-ब्रह्मकी शिक्षा दिया करते थे। श्रीरामचन्द्रजी अपने कुल-गुरु को ब्रह्म-ज्ञानमें भटकते देखकर वडे दुःखी हुए और कृपाकर उनका उद्धार किये थे। रामचन्द्रने उन्हें भक्ति प्रदान की। उस भक्तिके अगाध खोतमें उनकी अद्वैत चिन्ता—उनका ब्रह्मज्ञान न जाने किधर वह गया। अब उन्होंने भगवान् श्रीरामचन्द्रकी सेवामें आत्मनियोग कर दिया।

रावण

मध्य सम्प्रदायमें आज भी एक जनश्रुति चलती

आरही है कि शंकर-सम्प्रदायके ज्ञानी लोग लंकाधिपति दशाननको (रावणको) ही वेदान्तके अद्वैत सिद्धान्तका आदि भाष्यकार कहते हैं। अतएव राज्ञसकुलपति रावणको अद्वैतवादी कहा जा सकता है। रावणके जन्म वृत्तान्तके सम्बन्धमें श्रीकृष्णसंहिता नामक प्रन्थमें लिखा है—

‘पुलस्यवंशीय एक चृष्टि ब्रह्मावर्तका परित्याग कर लंकाद्वीपमें कुछ समय तक रहे। वहाँ उन्होंने एक राज्ञस-कन्यासे विवाह किया। उसी कन्यामें रावणवंशकी उत्पत्ति हुई। इसीसे रावणको अद्वैतचृष्टि और अद्वैतराज्ञस कहा जा सकता है।’

उपरोक्त वचनोंसे मध्य सम्प्रदायका प्रवाद सत्य प्रतीत होता है कि रावण राज्ञस होनेपर भी एक घोर मायावादी चृष्टि थे। बौद्ध सम्प्रदायके ‘लंकावतार सूत्रके’ भी पता चलता है कि रावण एक प्रसिद्ध अद्वैतवादी और शून्यवादी चृष्टि थे। इसके अतिरिक्त रावणके क्रिया-कलापसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे एक प्रधान अद्वैतवादी थे। ब्रह्मकी शक्तिको अपहरणकर उसे निःशक्तिक ब्रह्मके रूपमें स्थापन करनेकी चेष्टा ही मायावादियोंका मूल-मंत्र है। रावणके अंतः-करणमें परब्रह्म श्रीरामचन्द्रकी शक्ति सीतादेवीको हरण करनेकी चेष्टा देखी जाती है। मायावादी रावण अपने शिष्यानुचरवर्गकी सहायतासे सीतादेवीको हरण करना चाहता था। भगवत् शक्तिको ग्रहण करनेसे उस शक्तिके आनुगत्यमें भगवत्सेवाकी प्रवृत्ति जग पड़ती। मायावाद-मंत्र सोऽहं तत्त्वरूप रावण का श्रीसीतादेवीके सम्पर्कसे रामचन्द्रकी पदवी ग्रहण करनेकी वासना नष्ट हो जाती। इसलिये देखा जाता है कि उक्त प्रवाद केवल प्रवाद ही नहीं है, बल्कि प्रकृत सत्य है, एवं रावण सचमुच ही अद्वैतवादी थे। परम भक्त हनुमानके द्वारा रावणके हृदयमें भक्तिसिद्धान्त रूप एक जोरका घुसा मारे जानेपर उसका अद्वैत-ज्ञान लोप हो गया। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। फिर रामचन्द्रके वेद-ध्वनिरूप बाणसे उसका निर्वाण-दशकशिर कट कर अलग हो गया।

तथ रावणने श्रीरामचन्द्रका स्तव कर अपनेको कृतार्थ बनाया था।

अब देखा जाता है कि त्रेतायुगमें भगवान्ने अवतीर्ण होकर मायावादी राज्ञसोंका विनाश तथा अद्वैतवादी चृष्टियोंका उद्धार किया था। इस प्रकार त्रेतायुगमें भी मायावादका विनाश होनेपर भक्तिसिद्धान्तकी विजय-पताका पुनः लहराने लगी।

द्वापर युगमें अद्वैतवाद और उसकी परिणति ‘श्रीशुकदेव’

श्रीव्यासदेवने जावालिकी कन्या वीटिकाको गोद लिया था। (उस समय पुत्र और कन्या दोनोंको गोद लेनेकी प्रथा थी।) उन्होंने उस वालिकाके साथ बहुत दिनोंतक तपस्या की। वीछे पुत्रकी कामनासे वीटिकामें वीर्य स्थापन किया। वीटिकाको गर्भ रहा। बारह वर्ष तक गर्भमें रहनेके पश्चात् भगवान्की आज्ञा और पिताकी प्रार्थनासे माताका क्षेश दूर करने हुए मायामुक्त अवस्थामें श्रीशुकदेवजी भूमिष्ठ हुए। भूमिष्ठ होनेके साथ-ही-साथ वे शुक पक्षीकी तरह भगवान्का स्तव-पाठ करने लगे। इसीलिए इनका नाम शुकदेव पड़ा। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें शुकदेवजीकी जन्म-कहानीका विस्तृतरूपसे वर्णन किया गया है। इस प्रसंगमें श्रीमद्भागवत्के १११२५ श्लोककी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तीकी टीका आलोचनीय है।—

“विचिन्त्य मनसा चक्रे भायां जावालिकन्यकाम्। वीटिकाख्यां ददौ तस्मै सोऽपि वैखानासाश्रमी। तत्तत्त्व व्यासत्यासह अहुकालं तपस्तेषे, तदन्ते तस्यां वीर्यमाधत्त। सा च गर्भवती एकादशसू वर्षेषु व्यती-तेष्वपि न प्रसूते स्म। अथ द्वादशे वर्षे इत्यादि * * क्ष अतो गर्भान्निमृत्यु प्रणम्य वहुस्तवानं त्वं दृष्ट्वा भगवानाह—‘व्यास ! त्वदीय तनयः शुकवन्मनोक्तं ब्रुते वचो भवतु तत्त्वद्वृक् एव नाम्नेति ।’”

इन्हीं शुकदेवजीने अभिशप्त परीचित महाराजको श्रीमद्भागवतका उपदेश दिया था।

हरिवंशमें एक और शुककी कथा पायी जाती है।
किन्तु ये शुक दूसरे थे। ये भी व्यासदेवके पुत्र थे।
किन्तु ये अरणीसे पैदा हुए थे तथा छाया शुकके
नामसे प्रसिद्ध है। महाराज परीक्षितके साथ इस छाया
शुकका कोई सम्बन्ध नहीं था। वीटिकाके पुत्र शुकदेव
निर्गुण ब्रह्मज्ञानी थे। ये निर्गुण ब्रह्मज्ञानमें मग्न
होनेपर भी भगवान्‌के शक्तश्चावेशावतार श्रीश्री
व्यासदेवजीने कौशलसे इनको ब्रह्म-ज्ञानकी तपस्यासे
हटाकर शुद्ध-भगवज्ञानके सहज सरल तथा मधुर
भक्तित्वकी ओर ले आए। श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्-
भागवतमें स्वयं जैसा अपना परिचय दिया है, जोचे
उसे उद्भृत किया जा रहा है—

इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्म-सम्मितम् ।

अधीतवान् द्वापरादी पितुद्वै पायनादहम् ॥

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमःश्लोक-लीलया ।

गृहीत-चेता राजेष्व आत्मानां यदधीतवान् ॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् परीक्षितको सम्बोधनकर श्रीशुकदेव गोस्वामी कह रहे हैं—‘राजेष्व’! द्वापरके अन्तमें इस भागवतरूप अथवा वेद तुल्य श्रीमद्भागवत् नामक महापुराणको मैंने अपने पिता श्रीकृष्णद्वै पायनसे अध्ययन किया था। निर्गुणस्वरूप ब्रह्ममें मेरी निष्ठापूर्ण होते हुए भी भगवान्-कृष्णकी मधुर लीलाओंने बलात् मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षितकर लिया। यही कारण है कि मैंने इस पुराणका अध्ययन किया।

अतएव शुकदेव निर्गुण ब्रह्म-ज्ञानी होनेपर भी श्रीव्यासदेवकी कृपासे निर्गुण ब्रह्मज्ञानकी अपेक्षा उत्तमःश्लोक भगवान्‌की मधुर लीलाओंकी ओपुता उपलब्धिकर इसकी ओर आकर्षित हुए थे। और ऐसी लीलाओंसे पूर्ण श्रीमद्भागवतके एकमात्र अवण और कीर्तनादि द्वाराही जीवोंका परम मंगल हो सकता है—ऐसा जानकर इन्होंने अद्भुत परीक्षितको श्रीमद्भागवतका ही उपदेश प्रदान किया। उन्होंने परीक्षितको ब्रह्मज्ञानका उपदेश न दिया। क्योंकि

ब्रह्म-ज्ञानसे न तो परीक्षित महाराजका कोई कल्याण हो। सकता था और न दूसरोंका ही। श्रीशुकदेवजी वैष्णव सम्प्रदायके एक प्रधान आचार्य हैं।

‘कंस’

राज्ञसराज कंस महाराज उप्रसेनका पुत्र था। उसकी माताका नाम पञ्चार था। उप्रसेनके दैव-स्वभाव युक्त होनेके कारण कंसने उनको कारणहमें बन्दकर स्वयं राजा बन बैठा। उसकी चचेरी बहिनका विवाह विशुद्ध-सत्त्वसे (देवकीके गर्भसे) स्वयं भगवान् आविभूत होकर कंसको मारेंगे। नास्तिक कंसने दैववाणीको मिथ्या करनेके लिये देवकीको मारना चाहा। फिर सोच समझ कर देवकी और बसुदेवको कारणहमें बन्द कर दिया कि भगवत्विप्रदके प्रकट होते ही वह उनका विनाश कर सके। मायावादी श्रीविप्रदके विरोधी होते हैं। उनके दार्शनिक विचारोंमें भगवान् का कोई नित्य अप्राकृत विप्रह या आकार नहीं होता। शरीर धारण करना मायाका धर्म है, और इस शरीर या अविद्याके धर्मका नाश करना ही मोदा है—यह शाङ्कराचार्यका शारीरक- सिद्धान्त है। देवकीके आठवें गर्भमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी हमारी तरह प्राकृत या मायिक शरीर (?) धारण कर जन्म ले रहे हैं—कंसने ऐसा मन-ही-मन सोचकर उनका विनाश करने के लिये व्यस्त हो गया। कंस यह नहीं जानता था कि भगवान् कभी भी मायिक शरीर धारण कर नहीं आते। उसे यह भी मालूम नहीं था कि अप्राकृत वस्तु प्राकृत वस्तु—इन्द्रियादिसे अगोचर है। मायावादी-कंसका भगवत् विप्रदके प्रति इष्ट्या-द्वेष लक्ष्यकर भगवान् कृष्णने उसे तथा उसके शिष्यानुचर प्रक्षम्य, तुणावत्, अध, वक, पूतना आदि असुरोंका विनाश कर अपने विप्रहका वैशिष्ट्य स्थापन कर दिया।

श्रीकृष्ण संहिताके चतुर्थ अध्यायमें कंस और प्रलम्ब्वासुरको प्रच्छन्न बौद्ध और मायावादी कहा गया है तथा कृष्ण और वलदेवने उनका विनाश कर उस

युगके जीव-समूहका नास्तिक मायावादके कराल कबलसे रद्दा की थी।

“देवकीमगृहीत् कंस नास्तिवय-भगिनी सती ।”

“प्रलम्बो जीवचौरस्तु शुद्धेन शौरिना हतः ।

कंसेन प्रेरितो दुष्टः प्रच्छन्न वौद्ध रूपधृक् ॥”

(कृ. संहिता)

अर्थात् वसुदेवने नास्तिक्यकी प्रतिमूर्ति कंसकी बहिन देवकीको विवाह किया था, एवं उस कंसके द्वारा भेजे गए प्रच्छन्न वौद्धमत मायावाद ग्रहण जीव-चौर दुष्ट प्रलम्बासुरोंको श्रीवलदेवजीने वध किया था।

उपरोक्त श्लोकमें ‘जीवचौर’ शब्दकी सार्थकता यह है कि (मायावादमें) विश्रह स्वीकार करना ही अविद्याप्रस्त अवस्था है और वही जीव-स्वरूप है। इस स्वरूप अर्थात् विश्रहका अपनोदन या अपहरण करना ही चोरी है। विश्रहका विनाश तथा जीवत्वको हरण करना ही उक्त असुरोंका स्वरूपगत स्वभाव था। इसलिये ये लोग मायावादी नास्तिक तथा जीव चौर हैं। अथवा जीवत्व नामकी कोई वस्तु नहीं—सभी ब्रह्म हैं; ब्रह्म ही अविद्या प्रस्त होकर जीव भावमें हैं—यह मायावादियोंके विचार हैं। अतः अद्वैतवादी जीव-चौर ही ठहरते हैं। कृष्ण और वलरामने उनकी उस दुर्दिका विनाशकर उनका परम कल्याण किया था। इस प्रकार द्वापर युगमें भी अद्वैतवादके विनाश होने से वैष्णव धर्मकी पुनः प्रधानता स्थापित हुई।

तीनों युगोंमें अद्वैतवादका परिणाम

सत्य, त्रेता और द्वापर—तीनों युगोंमें ही भगवान्

की इच्छासे मायावादका उत्थान और पतन हुआ है। उक्त युगोंमें और भी बहुतसे ऋषि और राजासों या असुरोंने अद्वैतवाद या मायावादको स्वीकार किया था। मैंने इन दोनों श्रेणियोंके प्रधान प्रधान अद्वैतवादियोंकी जीवनीका उल्लेख किया है तथा उनका अन्तिम परिणाम निर्देशपूर्वक मायावादकी जीवनीकी एक भलक मात्र आप लोगोंके सामने उपस्थित किया हूँ। करुणावरुणालय भगवान्‌ने अद्वैतवादी ऋषियोंको कृपाकर वैष्णव धर्ममें आकर्षणकर अपनी सेवा में नियुक्त किया था। और मायावादी असुरों और राजासोंको विनाशकर कृपापूर्वक मुक्ति प्रदान किया था। इसीलिये स्वयं भगवान् ‘मुक्तिपद’ के नामसे पूजित होते हैं। स्मरण रहे कि प्रागैतिहासिक युगका मायावाद या निर्विशेषवाद और वर्तमान युगका अद्वैतवाद या निर्विशेषवाद—जिसके प्रबन्धक आचार्य शङ्कर हैं, एक नहीं हैं। वर्तमान मायावाद अत्यन्त आधुनिक ही नहीं अपितु शास्त्र-विरुद्ध और व्यास-विरुद्ध है। भगवान्‌ने अद्वैतवादी असुरोंको मुक्ति प्रदानकर जो सायुज्य प्रदान किया था, वह अत्यन्त आसुरिक और कष्टप्रद होनेपर भी आत्यन्तिक निर्विशेष रूप मिथ्या अवस्था नहीं है। आचार्य शङ्करकी मुक्ति काल्पनिक और मिथ्या है—अर्थात् उसकी पारमार्थिक सत्यता विलक्षण नहीं है।

(क्रमशः)

--जो अपने प्रिय सम्बन्धीको भगवद्गत्तिका उपदेश देकर मृत्युकी फाँसीसे नहीं छुड़ाता, वह गुरु गुरु नहीं है, वह स्वजन स्वजन नहीं है, वह पिता पिता नहीं है अर्थात् उसका पुत्रोत्पत्तिके विषयमें यत्न करना उचित नहीं है, वह जननी जननी नहीं है अर्थात् उस जननीका गर्भधारण करना कर्तव्य नहीं है, वह देवता देवता नहीं है अर्थात् उसका मनुष्योंके निकट पूजा ग्रहण करना उचित नहीं है और वह पति पति नहीं है अर्थात् उसका पाणि ग्रहण करना उचित नहीं है।

— (श्रीमद्भागवत)

श्रीश्रीव्यास पूजा और श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति

[ॐ विष्णुपादं परमहंसं परिब्राजकाचार्यं १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञानं केशव महाराजके आचिभावं तिथिके अवसरपर
श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्पादक द्वारा लिखित]

इस पुण्य भारत-भूमिकी, अथवा समग्र विश्वकी, “ब्रह्मसूत्र” की प्रभासे उद्घासित जनमरणहलीमें—भारतकी पाचीन सभ्यता, आचार-विचार एवं धर्मसे सम्बन्ध रखने वाले जन-समाजमें ऐसे कग लोग ही पाये जायेंगे जिन्होंने “कृष्णद्वै पायन व्यास” का नाम न सुना हो । किन्तु व्यासदेवके नाम सुननेपर भी अनेक ऐसे हैं, जो व्यासपूजा क्या है ? इसकी प्रणाली क्या है ? उद्देश्य क्या है ? इन विषयोंसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं । उन्हें व्यासपूजा शब्द ही अभिनय और अशुतपूर्व जान पड़ता है ।

श्रीव्यासदेवजी कीर्तन-विग्रह आश्रय जातीय भगवद्वतार थे । इन्ही कीर्तन-विग्रहके मुखसे विगलित असृतकी अजस्तधारा कीर्तन-विग्रह श्रीमद्भागवतके रूपमें—शब्दावतारके रूपमें—प्रन्थ भागवत के रूपमें इस अवनितल पर प्रकटित हुई है । श्रीमद्भागवतमें निखिल स्थानोंके निखिल जीवोंके निखिल युगोंकी सम्पूर्ण समस्याओंका आश्चर्यरूपसे समाधान है ।

प्रथेक जीवका धर्म कृष्णकी सेवा करना है । इसे ही सनातनधर्म, वैष्णवधर्म या जैवधर्म कहते हैं । श्रीमद्भागवतमें इसी सनातनधर्मकी विशद व्याख्या की गई है । श्रीमद्भागवतके उपदेशोंको कालके विभिन्न आधारोंमें पढ़ कर विकृतरूपमें विभिन्न प्रकारसे लौकिक व्यवहारके जीवनमें नियुक्त हुआ देख कर—श्रीमद्भागवतके निरूद्ध तत्त्व एवं सिद्धान्तोंको ओताओं और साधारण जनताके धारणाके अनुकूल बनानेके उद्देश्यसे हमारे पूर्व-पूर्व आचार्योंने युग-युगमें इस व्यास-पूजाका अवलम्बन किया है । अनिमेषदेवता नैमित्यारण्यमें सृतगोस्वामीने व्यासदेवके मुखसे श्रवण की हुई हरिजन-तोषणी श्रीत-वाणी शीनकादि ऋषियों-

के आगे कीर्तन कर व्यासपूजा की थी । श्रीमाध्य-गौड़ीय-सम्प्रदायके आचार्य श्रीमध्यपादने वदरिकाश्रम-में व्यासदेवकी कीर्तन-वाणी “गीताभाष्य” का कीर्तन कर व्यासपूजाकी अल्लर्ड मङ्गल आरती उतारी थी । फिर पतितपावनी गङ्गाजीके तटपर, श्रीधाम मायापुर नवद्वीपमें कीर्तनस्थली श्रीवास्त्रंगन-में जगत्गुरु बलदेवाभिन्न श्री-श्रीनित्यानन्द प्रभुने उसी श्रीत-वाणीका कीर्तन कर व्यास-पूजा की थी । फिर कुछ ही दिन हुए श्रीधाम-मायापुरके उसी रङ्गमङ्गल पर हमारे परम गुरुदेव, परमहंस परिब्राजकाचार्य ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराजने पृथ्वीमें सर्वत्र श्रीमद्भागवत-वाणीका प्रचार कर श्रीश्रीव्यासपूजाका आदर्श दिखलाया है । क्या मध्वाचार्य, क्या नित्यानन्दप्रभु और क्या सरस्वती गोस्वामी महाराज सभी ने—

“कृते यद्भ्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मर्यैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तदुरि कीर्तनात् ॥”

(श्रीमङ्गा० ११-३ ५८)

इस व्यासोक्त विष्णुपूजा-प्रणालीके समर्थन द्वारा—इसी श्रीत-वाणीका कीर्तन कर व्यास-पूजा-प्रणाली की शिक्षा दी है ।

अश्रीत-पथका परिच्याग कर श्रीत-पथ या गुरु-वाक्यका अनुसरण ही व्यास पूजाका तात्पर्य है । और गुरु वैष्णवोंके आनुगत्यमें श्रीहरिसेवाके लिये तैयार होना ही व्यासपूजाका उद्देश्य है ।

यह श्रीत-मार्ग क्या है ? जिस समय महाराज परीक्षित अपना राजसिंहासन तथा सर्वस्व व्यागपूर्वक, जीवनको छण्डभंगुर और अवश्यम्‌भावी अनित्यता का विषय जानकर, महाभागवतके मुखसे विगलित

हरिकथाके अवणमें ही जीवनकी शेष घड़ियाँ विताना मानव जीवनकी सर्वोत्तम सार्थकता है ऐसी अनुभूति कर, परम पावनी श्रीगंगाजीके लटपर पहुँचे, वहाँ कितने ही ऋषि, मुनि, धर्मोपदेशक, ब्रह्मज्ञ, पंडित, ज्ञानी, कर्मी, योगी, तपस्वी एवं ब्रतधारी उपस्थित थे। किन्तु उस सच्चे जिज्ञासुकी मीमांसा का किसने समाधान किया? किसने उन्हें बाल्तव-सत्यका आलोक दर्शाया? एक मात्र कीर्तनविप्रह श्रीव्यासदेवके शिष्य महाभागवत वरेण्य श्रीशुकदेवजीने ही। इन्होंने श्रीतप-परम्परामें व्यासदेवजीसे भगवद् भक्ति-तथा भवण की धी और भवण की धी श्रीमद्भागवत, जिसमें अधोक्षेत्र राज्य का संदेश है। इसी श्रीत-धारा-जात श्रीसूतगोस्वामीने नैमित्तिरत्नमें कलि-त्रस्त-ऋषि-मुनियोंके आगे थोड़े ही रात्रोंमें सहज-सरल भाषामें वेदका तात्पर्य कहनेमें समर्थ हुए थे। इसकलिकालमें भी श्रीगौरसुन्दरने अपनी नित्य जीला प्रकट कर इसी सनातन श्रीतधारा—“कीर्तन” का आभय लेकर कलि-प्रस्त जीवोंका उद्धार किया है। अभी कुछ ही दिन हुए, ऊँविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वतीने, श्रीश्रीभक्तिविनोद ठाकुरकी मनो-भिलाषाके अनुसार इसी श्रीतवाणी “हरि संकीर्तन” से समप्र विश्वका कल्याण किया है। आज इन्हीं ऊँविष्णुपाद श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामीके निर्देशानुसार गौड़ीय-वेदान्त समिति के भक्तवृन्द उसी श्रीत-मार्गसे श्रीश्रीव्यासपूजाका प्रत्येक वर्ष अनुष्ठान करते हैं।

व्यास पूजा कोई व्यक्तिगत पूजा अथवा सम्प्रदाय विशेषकी ही पूजा नहीं, बल्कि जीवमात्रकी पूजा है। महाभारतमें व्यासदेवने कहा है—‘सर्वे वरण ब्रह्मजा ब्राह्मणश्च।’ अर्थात् सभी वरण ब्रह्मसे उत्पन्न और ब्राह्मण हैं। अतः सभीको व्यासपूजा करनेका अधिकार है। पर साथ-ही-साथ योग्यताकी भी आवश्यकता है। जैसे प्रत्येक पुरुषका पिता और प्रत्येक खीको माता बननेका अधिकार है, परन्तु अनुकूल अबसर रूपी योग्यताके अभाव में पंचवर्षीय बालक या बालिका पिता या माता बननेसे वंचित रहते हैं।

उसी प्रकार व्यास-पूजाकी योग्यता हुए विना व्यास-पूजा सम्पन्न नहीं होती।

भगवान् पूर्ण चेतन और अप्राकृत रसमय विप्रह हैं। गुरु-तत्त्व भी अप्राकृत तत्त्व है। गुरु-पूजाका नामान्तर व्यासपूजा है। इसके अलावा व्यासदेव भगवद् शक्तव्यावेशावतार थे। अतः व्याज-पूजा भी अप्राकृत पूजा है। इसलिये यह पूजा करनेके लिये अथवा परमार्थ राज्यमें प्रवेश करनेके पहले हमें सर्व प्रथम आत्म-धर्ममें प्रतिष्ठित होना होगा। आचार्य जगत्के उच्चतम नक्षत्र “गौर सुन्दर” ने सर्व प्रथम आत्मधर्ममें ही प्रतिष्ठित होनेका उपदेश दिया है। श्रीकृष्णने छर्जुनको शीतामें सर्व प्रथम यही उपदेश दिया कि, तुम इस जड़ शरीर और मनसे परे उक्तषु आत्मा हो—‘अपरेयमितस्वन्यां प्रकृतिं विद्वि मे पराम्।’ अतः व्यासपूजाके लिये इस आत्म-धर्ममें प्रतिष्ठित होना ही योग्यता प्राप्त करना है और वही इसका सुन्दर रंगमंच है। शास्त्र कहते हैं:—“नादेवो देवम-चर्येत्” अर्थात् अदेव व्यक्ति कभी देवताकी पूजा नहीं कर सकता। प्राकृत-वस्तु अप्राकृत-वस्तुकी पूजा नहीं कर सकती। अचिन्तके द्वारा चेतनकी पूजा नहीं होती। चेतन अचेतनका ज्ञानगम्य विषय नहीं। पूज्य और पूजक तो समजातीय होना चाहिये। अन्यथा वह पूजा जड़की पूजा हो जाती है। वह पूजा पूजा नहीं, सर्वथा अभिनयमात्र हो जाता है। इसीका नामान्तर भूत-शुद्धि है।

लिङ्ग और स्थूल देह आत्माके दो नैमित्तिक आवश्यक हैं। अतः मनोधर्म अथवा दैहिक धर्म नैमित्तिक परं प्राकृत धर्म है और आत्मधर्म इसके विपरीत नित्यधर्म है। जिन लोगोंने बाह्य प्रक्रियाको ही भूत-शुद्धि समझ रखा है, वे कर्म मार्गके पथिक हैं। जिस तरह मदिराका चत्तन जलमें बार-बार धोनेसे भी गन्ध नहीं छोड़ता वैसे ही कर्म चेष्टाके द्वारा—स्थूल देहकी क्रिया द्वारा चेतन वस्तुकी पूजा करनेकी योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती। श्रुति कहती है:—

परिद्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणे
निर्वेद मायाज्ञास्य कृतः कृतेन ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ,
समित्याणिः श्रोत्रियं ब्रह्म निष्ठुम् ॥ (मु'० उ० ११२)

इस प्रकार कर्म-मार्गके हेय होनेसे फिर अन्तःशीच के द्वारा भूत-शुद्धि करनेके लिये ज्ञानमार्गके पथिक हो पड़ते हैं। ये लोग माया और मायापति श्रीहरिको एक कर देते हैं। उनका कहना है, 'मायाका नामान्तर ही भगवान् है।' ये कर्मीका वाह्यरूपसे परित्याग करते हैं। फाल्गुवैराग्य और निर्विशेष ब्रह्म ही उनका चरम ध्येय है। अज्ञान कर्म-संगित्यमें हमलोगोंका उद्धार करनेके लिये भक्तिके पूर्वपक्षमें जो भोग या त्यागकी वात कही गयी है, उसके बाह्य आचारको ही वे चरम आदर्श मानकर नित्य सत्यसे बंचित होते हैं। इसी लिये श्रीमद्भागवत (१०।१४।४) में कहा गया है:—

अयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलव्यये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यथा स्थूलतुषावधातिनाम ॥

अर्थात् जो लोग अयः मार्गको छोड़कर केवल ज्ञान लाभ करनेके लिये कष्ट स्थीकार करते हैं उन्हें भूसी में चावल खोजनेके समान केवल कष्ट ही कष्ट हाथ लगता है। वे बंचित होते हैं। अतः "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणम् ब्रज।," "मामेव ये प्रथमन्ते मायामेतां तरंति ते।", "मन्मना भव मद्भक्तोमद्याजी मां नमस्कुह।" आदि गीताके श्लोकोमें भगवान् श्री-मुखसे प्रतिज्ञा करते हैं कि मेरी सेवा अर्थात् भक्तिके अलावा जीवोंकी गति नहीं है। जीवोंका यही परम धर्म है। यही भूत-शुद्धि है और यही व्यास-पूजाकी योग्यता या अधिकार है।

श्रीव्यासपूजाका नामान्तर गुह-पाद-पद्म में आत्म समर्पण है। श्रीगुरुदेवका मनोभिष्ट—जो सुचाहू-रूप से भगवत्-सेवा है, उसे पालन करना, उसका अनु-सरण करना ही परम धर्म है। अतः जो जितने ही अंशोमें व्यासदेव और श्रीमद्भागवतको केन्द्र कर श्रीगुरुदेवके मनोबांधित पथ का अनुसरण करते हैं वे उतने ही अंशोमें व्यासपूजाकी सफलता एवं पूर्णता लाभ करते हैं।

मायावादी भी व्यासपूजा करते हैं। मायावादी "अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि," आदि श्रुति वाक्योंका अनर्थ कर निर्विशेष अवस्थाको ही चरम प्रयोजन मानते हैं पर वेदान्त शास्त्रके अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवतमें इन विचारोंको हेय माना गया है। दूसरी बात यह है कि शङ्कराचार्यके वेदान्त भाष्यमें जहाँ मूल ग्रन्थसे विरोध उपमित हुआ है, श्रीगुरुदेव व्यासको भ्रान्त कहा गया है। अतः इनकी व्यासपूजा कहाँतक पूजा है अथवा लालूना है, पाठक विचार करेंगे।

व्यासपूजा अन्यान्य सम्प्रदायोंमें भी होती है। १५ वीं और १६ वीं शतीमें अनेक महापुरुष हो गये हैं जिन्होंने व्यासदेवकी वाणीका प्रचार भारतके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें, बोल-चालकी भिन्न-भिन्न भाषाओंमें सर्वसाधारणकी धारणाके अनुकूल सरल भाषाओंमें किया है। उत्तर भारतमें श्रीतुलसीदास गोस्वामीने 'रामायण', पंजाबमें गुरु नानकने 'आदिप्रन्थ', उड़िसा-में श्रीजगन्नाथदासने 'उड़िया भागवत', आसाममें शङ्करदेवने 'कीर्तनघोषा' आदि भक्तिप्रन्थोंकी रचनाएँ-की हैं। वर्तमानकालमें इन सम्प्रदायोंके लोग मूल ग्रन्थ श्रीमद्भागवत और मूल ग्रन्थकार श्रीवेदव्यासको प्रायः भूल ही बैठे हैं। ये लोग इन आधुनिक ग्रन्थोंको ही श्रीमद्भागवतके स्थानमें और इनके ग्रन्थकारोंको ही वेदव्यासके स्थानमें पूजा करते हैं। किन्तु गौड़ीय सम्प्रदायमें आज भी ऐसा नहीं होता। इस सम्प्रदाय-में भी उन्हीं महापुरुषोंके समसामयिक श्रीलोचनदासने 'चैतन्य-मङ्गल', वृन्दावनदास ठाकुरने 'चैतन्यभागवत' एवं कृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृत' इन तीन भक्तिप्रन्थोंकी रचनाएँ कर गौड़ीय सम्प्रदाय-के लिये तीन अमूल्यनिधियाँ छोड़ गये हैं। पर गौड़ीय समाज इन ग्रन्थोंके रहने पर भी मूल ग्रन्थ और मूल ग्रन्थकार श्रीमद्भागवत और वेदव्यासको नहीं भूला। आज भी वेदान्त-सूत्र, श्रीमद्भागवत, और गीता आदिकी दैनिक आलोचना करना ही इनका प्रधान कर्त्तव्य है। श्रीमद्भागवतका आचार-विचार ही इन गौड़ीय सम्प्रदायके लोगोंका आचार-विचार है।

दूसरी बात यह है कि आचार्य शङ्करने अद्वैत-वादका, श्रीमन्मध्वाचार्यने शुद्धद्वैतवादका, श्रीरामानुजने चिन् और अचिन् इन दोनोंसे विशिष्टविशिष्टद्वैतवादका, श्रीनिम्बादित्यस्वामीने जीव और ईश्वरमें युगपत् भेद और अभेदवादका और विष्णुस्वामीने शुद्ध अद्वैतवादका प्रचार किया है। परन्तु उपरोक्त किसी मतमें वेदका सर्वाङ्गीण विचार नहीं है। उनमें केवल एकदेशी सिद्धान्तका विचार है। इन सबके बाद आचार्यकी भूमिकापर श्रीचैतन्यचन्द्र अपनी नित्य लीला प्रकटकर अवतीर्ण होते हैं। उन्होंने उक्त आचार्योंके मतोंमें जो कुछ परस्पर भेद था उन सबका एक अपूर्व समन्वय स्थापन कर दिया है। उन आचार्योंके अभावोंको पूर्ण कर मध्वाचार्यके सचिच्छानन्द विप्रदका सिद्धान्त, श्रीरामानुजका शक्ति-सिद्धान्त, श्रीविष्णुस्वामीका शुद्धद्वैतसिद्धान्त तथा निम्बादित्य का द्वैताद्वैत सिद्धान्त प्रदण्डकर अचिन्त्य भेदाभेदके नामसे एक सर्वदेशी सिद्धान्तका प्रचार किया है। इसमें वेदका सर्वाङ्गीण, दोष-रहित, नित्यधर्मकी प्रतिष्ठा है। गौड़ीय सम्प्रदाय इन्हीं गौरसुन्दरकी निजी सम्प्रदाय है। अतः जिस सम्प्रदायमें जितनी ही अपूर्णता है उस सम्प्रदायमें व्यासपूजाकी भी उतनी ही अपूर्णता है। यही अन्तर है गौड़ीय व्यासपूजा और अन्य सम्प्रदायके व्यास-पूजाओंमें।

परमहंस चक्रवर्ती श्रीशुकदेवजीकी हंसी-संहिता श्रीमद्भागवतकी लूपप्राय कीर्तन-ध्वनिको पुनः संचरितकर, जगत्को उस संकीर्तनकी बाइमें हूँबो देनेके लिये ही परमहंस श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज गौरशक्तिके रूपमें इस जगत्में अवतीर्ण हुए थे। अतः श्रीतधाराके अनुसार इनके मनोबांधित विचारधाराका अनुसरण करना ही व्यासपूजाकी सफलता है। इसके अतिरिक्त अन्य आचरण समूह गुरुद्वाहिता और भगवत्द्वाहिता है। आज उपरोक्त विचार धाराके प्रतिकूल गौड़ीय सम्प्रदायमें भी कोई-कोई भजनानन्दी होनेका अभिनय करते हैं, कोई कलियुगके महामन्त्र नाम-संकीर्तन करना अवैध बतलाते हैं, कोई श्रीहरिको अपने ही

भोगमें लगा रहे हैं, और कोई कनक-कांचन और मान-प्रतिष्ठामें ही हूँब उतरा रहे हैं। अतः इनलोगोंके द्वारा व्यासपूजाका स्वांग रचे जानेपर भी वह प्रकृत व्यासपूजा नहीं है।

गौड़ीय वेदान्त समिति गौड़ीय-सम्प्रदायकी एक शाखा है। यह आज भी इस भीषण जड़वादके युगमें, इस परिवर्तनके युगमें जबकी समस्त देशमें नास्तिक्यवाद-की भीषण लपटें धूँ-धूँ कर जल रही हैं तथा धर्म-निरपेक्षताके नामपर धर्मकी बलि दी जारही है, गौड़ीय वेदान्त समितिके भक्तवृन्द अदम्य उत्साहसे निर्भिकता पूर्वक समप्र देशमें श्रीचैतन्तदेवका स्वर्णिम सन्देश—भक्तिसिद्धान्तके अटल पर सरल वाणियोंको सुना रहे हैं। इसके अतिरिक्त श्रीगौरसुन्दरकी लीला स्थली श्रीनवद्वीप धामकी परिक्रमा, इनका जन्मद्वामहोत्सव, रथयात्राका विराट महोत्सव; काशीधाम, नैमिषारण्य, वद्रीनारायण, सेतुबंध रामेश्वर, द्वारकाधाम, क्षेत्रमण्डल (पुरी) अयोध्या, पंदरपुर, उज्जैनी तथा भुवनमोहन नटवर कृष्णकी लीलास्थली ब्रजमण्डल आदि भगवद्वामोंमें चातुर्मास्य ब्रतका पालन, एवं व्यासपूजा आदि विभिन्न भक्ति और भगवद्दस्मृति उद्दीपकारी उत्सवादिके उपलक्ष्यमें हरिकथाके प्रचारक। विपुल आयोजन कर भागवत सिद्धान्तके निरूप तत्त्वोंको सर्वसाधारण तक पहुँचाते हैं। इन धाम परिक्रमा और पारमार्थिक सम्मेलन आदि मङ्गलमय अनुष्ठानोंके द्वारा ज्ञासंख्य जीवोंके स्वार्थ, परार्थ तथा निःस्वार्थ साधनका—जननिष्ठ, समाजनिष्ठ तथा परलोकनिष्ठ कल्याणका खोत प्रवाहित कर रहे हैं।

गौड़ीय वेदान्त समितिका कहना है कि अधोक्षेत्र कृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं और वाकी सभी उसके भोग्य हैं। अतः अधोक्षेत्र कृष्णकी सेवा ही एकमात्र जीवका धर्म है, विषयोंकी सेवा नहीं। जो साध्य है, वही साधन है। ये परस्पर भिन्न नहीं हैं। उनका कहना है—सर्वप्रथम आत्मधर्ममें प्रतिष्ठित होओ। शरीरधर्म और मनोधर्ममें आसक्त रहनेसे एकता और विश्वप्रेम शब्द केवल शब्दमात्र ही रहेंगे। इनका कहना है—‘उत्प्रित् जापत् प्राप्य वरान्निवोधत्’

‘शृणु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।’ अर्थात् उठो, जागो, चेतो ! हम सभी अमृतके पुत्र हैं। जीवमात्र ही उस अमृतके उत्तराधिकारी हैं। ये कहते हैं—जगत्सुके—विश्व-ब्रह्माएङ्गके सब मनुष्य हमारे आत्मीय हैं। संसारके पशु-पक्षी, लृण, लता, गुलम आदि सभी हमारे स्वजन हैं। जहाँ जो कुछ भी चेतनता है हमारे प्रभुकी है। हम उन सबके इस माया-मरीचिकासे उड़ार करेंगे। जीवका एकमात्र धर्म हरिनाम संकीर्तन है और श्रीरूप प्रदर्शित पथ ही श्रीकृष्ण कीर्तनका एकमात्र पथ है। नामाभास वयों नामापराधसे ही जगत्सुके सैकड़ों दुर्भिज, बाढ़, अमाव, भय, शोक, मोह आदि दूरभूत हो जाते हैं। हरिकीर्तनके अतिरिक्त सारी चेष्टाएँ वंधनका कारण हैं। इनका संकीर्तन केवल ताल, लय और स्वर ही नहीं है—ये तो रेडिओ, ग्रामोफोन और वेश्याओंके गानोंमें भी पाये जायेंगे, ज्वलन्त जीवन चाहिए और चाहिए आचार प्रचार युगपत्। हरिभक्ति देह और मनोधर्म नहीं, यह तो शुद्ध आत्माका धर्म है। इसके विपरीत जीवका स्वार्थ, परार्थ, या निःस्वार्थ साधन हो ही नहीं सकता। प्राकृत दर्शन त्याग करनेका नामही असन्-संग त्याग और संन्यास प्रहण करना है। भक्त और भगवान्के प्रति सेवामयी सरलता ही वैष्णवता है। इत्यादि। इन्हीं सिद्धान्तोंके ऊपर श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी सुहृद भित्ति है।

कुछ लोगोंकी धारणा है कि गौड़ीय सम्प्रदायमें वेदान्त शास्त्रकी आलोचना नहीं होती। किन्तु यह उनकी गलत धारणा है। हाँ आजकल श्रीचैतन्य सम्प्रदायमें आउल, बाउल, कर्त्ता, भजा नेझा, दर्वेश, साई, सहजिया, सखी, भेकी, स्मार्ती जाति-गोसाई, आदि अनेक अपसम्प्रदाय घुस आए हैं। इनका मूल उद्देश्य कांचन, कामिनी और प्रतिष्ठाका संघ्रह करना है। लोगोंको प्रसन्न करना ही उनका पेशा है। शाखीय सिद्धान्तोंसे इनकी चिर शत्रुता है। किन्तु गौड़ीय सम्प्रदायसे इनकी कोई तुलना नहीं हो सकती।

गौड़ीय सम्प्रदायमें वेदान्त दर्शनका जितना अध्ययन और अनुशीलन होता है, उतना और कहीं भी नहीं होता। वेदव्यास रचित वेदान्त-सूत्र और

इसका अकृत्रिम भाष्य श्रीमद्भागवत—ये दोनों गौड़ीय वैष्णवोंकी अपनी सम्पत्ति हैं। इसमें प्राचीनकालके प्रसिद्ध दर्शनोंका—कपिलके सांख्य दर्शनका, कणातके वैशेषिक दर्शनका, पतञ्जलिके योग दर्शनका, गौतमके न्याय दर्शनका तथा जैमिनीके पूर्व भीमांसाका और उनके बादवाले, चार्वाक दर्शन, अर्हत दर्शन, बौद्ध दर्शन, पाशुपत नकुलिश दर्शन आदिके पूर्व पक्षका खण्डन किया गया है। तथा परब्रह्म कृष्णको सम्बन्ध, कृष्ण-भक्तिको अभिधेय (साधन) और कृष्णप्रेमको प्रयोजन के रूपमें प्रतिपादन किया गया है। इस सम्प्रदायके आचार्योंने अचिन्त्य-भेदाभेद नामक दार्शनिक सिद्धान्तकी प्रतिष्ठाके निमित्त प्रस्थानत्रयी—ब्रह्मसूत्र गीता और उपनिषदोंपर भाष्य बनाया है जो दार्शनिक जगत्सुके आकाशमें सर्वदा भाष्कर सदृश प्रदीप रहेंगे। जीव गोस्वामीका पट्टसन्दर्भ दार्शनिक जगत्सुका अमूल्य और वेजोड़ प्रन्थ है। ये वेदान्तके अध्ययन और अनुशीलनके ही जीवन्त और ज्वलन्त प्रमाण हैं। इन के अतिरिक्त (भक्ति) रस शास्त्रमें रूपगोस्वामीके भक्ति-रसामृतसिद्धु और उज्ज्वलनीलमणि, नाटकमें उन्हींके ललितमाधव तथा विद्यमाधव, व्याकरणमें जीव गोस्वामीका हरिनामामृत व्याकरण, काव्यमें रूप गोस्वामीके पद्मावली, हंसदूत, उद्घवसंदेश, और कृष्णदास कविराज गोस्वामीका चैतन्यचरितामृत, स्मृतिमें सनातन गोस्वामीका हरिभक्तिविलास तथा गणित, व्योतिष, इतिहास आदि समस्त विषयोंसे गौड़ीय-साहित्य भरा पड़ा है। इन सभीका मूल प्रतिपाद्य विषय कृष्ण, कृष्णभक्ति और कृष्ण-प्रेम है। अतः भलीभाँति समाज्ञा करनेपर देखा जाता है कि यह सम्प्रदाय ही सर्वाङ्ग पूर्ण वैयासकी सम्प्रदाय है। इन्हीं कारणोंसे इस वर्त्तमान शास्त्राना नाम श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति रखा गया है जिससे लोग भ्रमबशान् आचार्य शंकरके मायावाद या निर्विशेषवादको ही वेदान्तिकमत न समझें, प्रत्युत् वेदान्तभाष्य श्रीद्वागवतके एकान्त अनुयायी श्रीगौड़ीय वैष्णवोंको ही सच्चा वेदान्तिक समझा जाय।

व्यास अष्टादश हैं। बालमीकिजीभी उनमें एह हैं। अतः उनका अनुगत सम्प्रदायभी व्यासानुगत

वैष्णव ही है, इसमें संदेह नहीं। वेदका विभाग करने वाले, वेदान्त सूत्रके रचयिता कृष्णद्वौ पायन वेदव्याख्य-के अनुगत वैष्णव कहनेसे एकमात्र इसी गौड़ीय सम्प्रदायके वैष्णवोंका ही बोध होता है।

व्यासानुग सम्प्रदायमें जो आचार्यके आसनपर बैठकर भागवतधर्मका आचार एवं प्रचार करते हैं, उन्हीं गुरुदेवकी पूजा ही व्यास पूजा है। यही व्यास पूजा वैतन्यदेवका मनोभीष्ट है। यही व्यासपूजा जगत्की अनंत अमीमांसित समस्याओंके सुलभावका पथ है। यही व्यासपूजा श्रौत पूजाका आदर्श है।

जिस महापुरुषने नाना हरिभक्ति उदीपकारी उत्सवोंका अनुष्ठान कर पारमार्थिक सम्मेलनकर, विविध भाषाओंमें पारमार्थिक पत्रोंका प्रकाशनकर विद्यालय, विद्यापीठ एवं स्कूल स्थापितकर ग्रन्थोंका प्रकाशनकर, विभिन्न स्थानोंमें हरिकथा प्रचारक मठ-

स्थापनकर श्रीश्रीचैतन्यदेवकी अमर वाणी—श्रीश्री-भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीकी निर्मल और वीर्यवती वाणी का प्रचारकर, कुसिद्धान्तवादियोंके मतोंका स्थगन और दमन कर वृद्ध सनातन धर्मको पुनः यौवन दान दिया है, मृतप्राय गौड़ीय सम्प्रदायमें पुनः जीवन संखार किया है, आज इन्हीं गुरुदेवकी पूजा है। आज इन्हीं परमहंस परिवाजकाचार्यवर्य १०८ श्रीश्री मदभक्तिप्रज्ञानकेराव महाराजजीके श्रीचरण-कमलोंमें श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके भक्तवृन्द सेवामयी श्रद्धाके तरण किसलबयुक सुकोमल पुष्प, कुंकुम एवं धूप-चंदनादिका थाल अर्पण कर रहे हैं। आज इन्हीं गुरुदेवके चरण-कमलोंमें हमारा कोटि-कोटि नमस्कार है और हम इस गौड़ीय वेदान्त समितिके भक्तवृन्दकी इस अधोक्षण गुरुपाद पद्म-मनोभीष्ट सेवा प्रवृत्तिको कोटि-कोटि कंठोंसे अभिनंदित करते हैं।

शरणागति

दैन्य—लज्जात्मक

[वैष्णवपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर]

प्राणेश्वर ! का कहौं सरम की वात ।
ऐसा पाप नाहि या जग मैं जो न कियो दिन-रात ॥
सोइ कर्मफल भव मैं भोगौं देहुँ दोष क्यहि नाथ ।
तब परिणाम विचार न करिकै कीन्हों अपनो घात ॥
अब पाछे पछिताय हाय मैं चहौं होइवो पार ।
दोष विचारि दण्ड तुम देहौं भोगौं मैं संसार ॥
करत गतागति भक्तजनन सङ्ग, मति तब चरण मँझार ।
सौंपी तब पद माहिं चतुरता अपनी प्रभो उदार ॥
गरब गयो सब जमी हृदय में, दीन-दयालु अपार ।
पाय कृपा तब निर्मल आशा भक्तिविनोद सँभार ॥

गीताकी वार्णी

(५)

प्रथम अध्यायका तात्पर्य

स्वयं भगवान् कृष्णचन्द्रने अपने पार्षद-भक्त अर्जुनको गीताका उपदेश क्यों किया,— इसके सम्बन्धमें गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीभृलदेव विद्याभूषणने अपने गीता भाष्यकी भूमिकामें लिखा है—

“अथ सुखचिद्घनः स्वयं भगवान्चिन्त्यशक्तिः पुरुषोत्तमः स्वसङ्कृत्याच्चत्तिविचित्र—जगदुदयादिविरित्त्यादि—संचिन्त्यचरणः स्वजन्मादि-लीलया स्वतुल्यान् सहाविभूतान् पार्षदान् प्रहर्यंस्त्वयैव जीवान् बहून विद्याशादूलीबदनाद्विमोच्य स्वान्तर्दूनोत्तर भाविनोऽन्यानुदीपीषु राहवमूर्धिदस्वात्मभूतमप्यजुंनमवितक्य—सशत्त्वा समोहमिव कुर्वन् तन्मोहविमार्जनापदेशेन सपरिकर—स्वात्मवाथात्म्यक—निरुपिकां स्वगीतोपनिषद्मुपादिशत्।”

अर्थात्—सुखमय और ज्ञानमय पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् अपने संकल्प, अचिन्त्य-शक्ति और ब्रह्मा आदि ध्येय चरण द्वारा इस विचित्र जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय किया करते हैं। उन्होंने अपनी जन्मदि ललित लीलाओंके द्वारा स्वतुल्य और अपने साथ आविभूत पार्षदोंको सुख प्रदान और असंख्य प्राणियोंकी अविद्या हृषिणी वाधिनीके मुखसे रक्षा की थी। इतना ही नहीं उन्होंने अपने अन्तर्दूनके बाद उत्पन्न जीवोंकी रक्षाके लिये रणभूमिमें अपने समान अर्जुनको अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा सम्मोहित जैसा कर फिर उनका मोह दूर करनेकी लीला करते हुए भगवत्स्वका निरूपण करने वाले गीतोपनिषद् का उपदेश दिया था।

गीताके आरम्भमें धृतराष्ट्र आदिके बचनोंकी रचना, प्रस्तावनाकी संगतिके निमित्त द्वैपायन व्यासने

स्वयं की है। यथा—रणभूमिमें गोविन्द और अर्जुन के बीच जो संवाद हुआ था, उसकी संगतिके लिये महामना व्यासदेवने धृतराष्ट्रका उल्लेख किया है। जो राष्ट्रको धरे=पकड़े हुए हैं, वे धृतराष्ट्र हैं, अर्थात् अत्यन्त मायावद्ध जीव देह, रोह, और राज्यादिमें ‘अह’ और ‘मम’ की कल्पना कर बहुत ही आसक्त हो जाता है। पीछे कोई उसे नष्ट करदे— तज्जन्य सर्वदा भयभीत और उद्धिग्न रहता है। जन्मान्ध और ज्ञानान्ध धृतराष्ट्र अपने उद्धत पुत्रोंके द्वारा अन्यायरूपमें प्रहरण किए गये राज्यके प्रति अत्यन्त आसक्त रहनेके कारण, पीछे उसे किर पाण्डव छीन न लें—इस आशंकासे उद्धिग्न होकर अपने सारथि तथा मंत्री प्रवलग के पुत्र महामति संजयसे पूछ रहे हैं कि, हे संजय ! धर्मवृद्धिको वर्दित करने वाले कुरुक्षेत्रमें यदुकी इच्छासे एकत्रित मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?

धृतराष्ट्रकी धारणा थी कि युद्ध अवश्यम्भावी है। किर भी उनके मनमें तरह-तरहकी भावनाएँ उठ रही थीं। जब दोनों पक्षके योद्धा रणभूमिमें एकत्रित हो गये और रणवाद्य वीरों के हृदयको उत्तेजित कर बजने लगे, तब कुछ भी न देख सकनेके कारण आन्ध धृतराष्ट्रका—युद्ध किस प्रकार हो रहा है न पूछ कर ‘क्या किया ?’ पूछना सर्वथा असंगत और हास्यजनक प्रतीत होता है। किन्तु कुछ गहरा विचार करने पर धृतराष्ट्रके बैसा पूछनेका कारण स्पष्ट हो जाता है। ‘धनके मदमें मदान्ध अपरिणामदर्शी मेरे पुत्र अहंकारमें मत्त होकर युद्धमें प्रवृत्त हो गये हैं, अथवा विश्व-विजयी भीम-अर्जुन आदिके भयसे भीत होकर युद्धसे विरत तो नहीं हो गये। अथवा

यह भी हो सकता है कि मेरे पुत्रों द्वारा किये गये युद्धका विपुल आयोजन और भीष्म तथा द्रोण आदि जैसे महारथियोंके विपक्षमें युद्ध करने के लिये खड़े देखकर पाण्डव धर्म और प्राणोंके भयसे युद्धसे विरत भी हो गए हों। अथवा 'धर्म-क्षेत्र' इस विशेषणके रहनेसे उसके प्रभावसे दुर्योधन आदि हमारे पुत्रोंकी मति बदल जानेसे संधिका प्रस्ताव भी संभव हो सकता है। अथवा युद्धिष्ठिर आदि पाण्डवोंमें धर्म भाव प्रबल रहनेसे अधर्म-युद्धमें प्रवृत्ति न होकर उनका बन-गमन भी संभव है।'—पुत्र स्नेहसे कातर धृतराष्ट्रके हृदयमें इन भावनाओंके उठनेके कारणही उनका वैसा प्रश्न हुआ था।

'धर्मक्षेत्र' के प्रयोगका गृह तात्पर्य यह है कि धर्म उत्पत्तिके निकेतन स्वरूप कुरुक्षेत्रमें समरकी इच्छासे एकत्रित होनेपर भी स्थानके प्रभावसे चित्तवृत्तिका परिवर्तन होना स्वाभाविक है। अतएव स्वभावतः धार्मिक रहने वाले पाण्डवोंका हृदय हिसारूप अधर्म से विमुक्त होनेपर मेरे पुत्र आसानीसे चिरकाल तक राज्यका भोग कर सकेंगे—यही उनकी आनन्दिक अभिलाषा थी। किन्तु राग-हेष आदि शुनुओंके सर्वतोभावेन जय करने वाले समदर्शी संजयने राजा को सुशामदी वातोंसे प्रसन्न न कर पक्षपात शून्य वाते ही बतलायी थीं।

यहाँ 'धर्मक्षेत्र' और 'कुरुक्षेत्र' दोनों पदोंमें क्षेत्र शब्दका व्यवहार होनेसे कोई-कोई महात्मा एक दूसरा अर्थ भी करते हैं—'क्षेत्र' पदका अर्थ भूमि प्रदण करनेसे धर्म-नन्दन युद्धिष्ठिर इस क्षेत्रके धान्य स्थानीय है। अर्थात् खेतमें जैसे धान्य रहता है, वैसे धर्म क्षेत्र में धर्मराज ही रहेंगे। वहाँ अधार्मिकोंको स्थान मिलना असंभव है। श्रीकृष्णद्वारा की गयी नाना प्रकारकी महायता—कृषिमें सहायक सिंचाई, बांध, और रक्षण के समान है। एवं जिस तरह खेतीमें मूल पौधोंकी वृद्धिके लिए अन्यान्य अनिष्टकर घासोंको समूल उखाइ-फेंकना आवश्यक होता है, वैसे ही धर्मका पालन और अधार्मिकोंका विनाश करने वाले भगवान् श्री-कृष्णचन्द्रके द्वारा दुर्योधन आदि अधार्मिक व्यक्तियों का विनाश अवश्यम्भावी है।

तदनन्तर संजय कहने लगे—राजा दुर्योधनने पाण्डवी सेनाको सुव्यवस्थित व्यूहके आकारमें खड़ी देखकर द्रोणाचार्यके समीप आकर पाण्डवोंमें अर्जुन के प्रति आचार्यकी स्वाभाविकी प्रीतिको नष्ट करनेके अभिप्रायसे कहा कि पाण्डवोंकी महती सेनाके व्यूहकी रचना आचार्यके शत्रु धृष्टद्युम्नने की है। धृष्टद्युम्न द्रोणका वध करनेके लिए यज्ञकी अग्निसे उत्पन्न हुए थे (क)। फिर भी आचार्यने उस शत्रुको भी शिष्यरूप में प्रदण कर उसे अख-शखकी शिक्षा दी थी। पाण्डवों को सेना सात अक्षीहणी और हमारी म्यारह अक्षीहणी होनेसे पाण्डव-सेना पर्याप्त है किन्तु हमारी सेना अपर्याप्त है। पर्याप्त और अपर्याप्तका दो प्रकारसे अर्थ किया जाता है। पर्याप्त=यथेष्ट, तथा अपर्याप्त=जो पर्याप्त नहीं है। फिर अपर्याप्त=अपरिमित और पर्याप्त=परिमित या कम उस समय दुर्योधनकी धारणा यह हुई कि हमारी-सेना कुरुकुलवृद्ध प्रतापी भीष्म द्वारा सुरक्षित है, अतः भयका कोई कारण नहीं। उधर पाण्डवोंकी सेना चंचल चित्त, हठी, और अपरिणामदर्शी तथा केवल

(क) द्रौणाचार्य और द्रुपद बाल्यवन्धु थे। द्रुपद राजा होनेपर अपने बाल्य सखाको अपना आदा राज्य दे देंगे—द्रुपदने प्रतिश्रुति दी थी। यथासमय द्रुपदके राजा होनेपर अर्थाभावके कारण द्रोण याचक ब्राह्मणके वेषमें द्रुपदके पास उपस्थित हुए और आदा राज्य माँगा। किन्तु द्रुपदने अस्वीकार कर दिया। द्रोणाचार्य कुछ दिनों के बाद धृतराष्ट्र और पाण्डुके पुत्रोंके अख-शखके शिक्षक नियुक्त किये गये। उन्होंने अख-शखकी शिक्षा प्रदान कर शिष्योंसे गुह दंचिणा-स्वरूप राजा द्रुपदको पराजित कर बैध कर अपने सामने उपस्थित करनेकी आज्ञा दी। प्रथीण धनुर्धर अर्जुनने अकेलेही उनकी आज्ञाका पालन किया। द्रोणाचार्यने द्रुपदको अपने सामने बन्धन युक्त अवस्थामें देखकर उनको बन्धन-मुक्त कर दिया तथा बाल्य-बन्धुत्वका समरण करा दिया। किन्तु राजा इससे अपना अपमान समझा और द्रोणका विनाश करनेके लिए एक यज्ञ किया। उसी यज्ञकी अग्निसे द्रौपदी और धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ था।

गदायुद्धमें निपुण भीम द्वारा रक्षित होनेके कारण दुर्बल है। फिर भी पितामहका पाण्डवोंके प्रति पक्ष-पातित्व रहनेके कारण हमारीसेनाके, पाण्डवोंकी सेनासे युद्धमें असमर्थ होनेकी सम्भावना है। इधर भीमका अध्यवसाय भी पाषाणकी रेखाके जैसा अटल है। इस प्रकार दुर्योधन आचार्यको उत्तेजित और उत्साहित कर उनसे भीष्मकी रक्षा करनेके लिये अनुरोध किया। इधर सूदमदर्शी भीष्मने विज्ञ-चित्त दुर्योधनको उत्साहित करनेके लिये सिंहके समान ऊँचे स्वरसे गरज कर शहू बजाया। तदनन्तर पार्थसारथी सर्वश्वरेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र और महारथी पांडुके पुत्रोंने त्रिलोकीको प्रकम्पित करते हुए शहूध्वनि-से धूतराष्ट्रके पुत्रोंके हृदय विदीर्ण कर भयका संचार किया। इस प्रकार सभीको युद्धके लिये सुसज्जित देखकर अर्जुनने भगवान् ऋषिकेशको दोनों सेनाओं-के बीचोंबीच अपना रथ खड़ा करनेके लिये कहा।

यहाँ 'ऋषिकेष' का अर्थ इन्द्रियोंके परिचालक या प्रबन्धकसे है। अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुन के हृदयमें ऐसी प्रेरणा प्रदानकी कि वे जिन वहमूल्य कल्याणमयी वाणियोंका उपदेश करेंगे, उन्हें दोनों पक्षके लोग सुन सकें। अतएव दोनों पक्षके मध्यस्थान में रथ ले जाना आवश्यक था। अर्थात् गीताके उपदेश उभय पक्षको साझी रखकर कहे गये थे। अतएव गीता सत्य है और इसकी प्रामाणिकताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनका अभिप्राय जानकर दोनों सेनाओंके बीचमें अपना रथ खड़ा कर दिया। वहाँ जानेपर अर्जुनने जिस लीलाका अभिनय किया है, वह अत्यन्त विचित्र है। उस लीलाके विना भगवान्की लीलाकी पुष्टि जो नहीं होती। इसीलिये अर्जुनने वहाँ अपने बन्धु-बान्धवों, स्वजनों तथा अन्यान्य व्यक्तियोंपर अख चलानेमें अपनेको असमर्थ बतलाकर, बाण सहित गारिडवका परित्याग कर दिया और विषादगस्त होकर रथमें पिछले भागमें बैठ गये।

वैद्यनव साधारणतः जीवहिसासे दूर रहते हैं। हिसा तमोगुणका कार्य है। अतः पर दुःखसे दुःखी

वैद्यनव किसी हालतमें भी हिसा करनेके लिये तैयार नहीं होते। और अर्जुनके इस मनोभावके साथ कुलधर्मके नाशकी आशङ्काने भी तो साथ दिया था। अर्थात् उनके युद्ध करनेसे जीव हिसा तो होगी ही, साथ-ही-साथ कुरुकुलका क्षय होनेसे सनातन कुलधर्ममांडा नाश हो जायगा। और इसके फलस्वरूप कुलकी श्लियाँ स्वेच्छाचारिणी और दुष्टा हो जायेंगी जिससे वर्णशङ्करकी उत्पत्ति होने लगेगी। इससे कुलोचित पञ्चयज्ञ आदि अनुष्ठान बन्द हो जायेंगे। करुणा-वहणालय श्रीकृष्णचन्द्रने समग्र विश्वको उद्धार करनेके लिये जिस कौशलका अवलम्बन किया था उसका निमित्त न होनेसे तत्त्वकथाका उपदेश नहीं होता। अतएव उस विषयके लिये सर्वगुण-सम्पन्न और योग्य शिष्यकी आवश्यकता थी। और अर्जुन उसी शिष्यका पार्द आदा कर रहे थे। अतः भगवत्कृत कौशलसे ही अर्जुनका यह मोह था।

अब यहाँ विशेष ध्यान देनेकी बात है कि जीव रक्त और मांसकी इस देहमें ही आत्मबुद्धि करता है और देहके साथ सम्बन्धयुक्त व्यक्ति और वस्तुको अपना मानता है। देहके भोगोंको संप्रह करनेमें सहायक होने वालेको वह 'आत्मीय' और दूसरोंको 'पर' समझता है। जिनको देह ही सर्वस्व है—ऐसे जीव देहके सुखके लिये न्याय-अन्याय किसी प्रकारके कार्योंको करनेमें नहीं हिचकते। वे दूसरे लोगोंकी हस्या करके भी अपने तुच्छ जागतिक भोग-मुख्योंका संप्रह करनेमें तत्पर रहते हैं। उनके हृदयसे अहिसाकी भावना सर्वतोभावेन अन्तहित हो जाती है। किन्तु उदार चरित्रवाले व्यक्तियोंका स्वभाव अन्य प्रकारका होता है। विश्वके दुःखसे उनका हृदय पिघल जाता है। ये अपने ऐहिक और पारलौकिक सुखोंकी तनिक-भी परवाह न कर दूसरोंके दुःखको दूर करनेके लिये व्यस्त हो जाते हैं। इनका यह कार्य अपनी देह, अपने आत्मीय-स्वजन, जाति या देश तक ही सीमित नहीं रहता, प्रत्युत् अस्तित्व ब्रह्माण्डके निविल जीवोंके आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिके लिये उनका हृदय व्याकुल हो उठता है। इसीका नाम दिया है—

‘आत्मवत् सर्वभूतेषु यो हिताय शुभाय च ।
वर्त्तते सततं हृष्टः किया ह्येषा दया स्मृता ॥’ मत्स्य०
परे वा वन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टुरि वा सदा ।
आत्मवद्वृत्तितत्त्वं हि दयैषा परिकीर्तिता ॥ एकादशी०

अतएव कहणासागर श्रीकृष्णचन्द्रकी जीव-दयाकी — त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भूदेव श्रीती महाराज

लीलाकी पुष्टि करने-साहचर्य करनेके लिये उपयुक्त शिष्य उस समय अजुंनको छाँड़ कर कोई द्वितीय व्यक्ति नहीं था । इसीलिये अजुंनको ही यह अभिनय करना पड़ा था ।

श्रीनवद्वीपधाम-परिक्रमाका निमंत्रण-पत्र

अं श्रीगुरुगोराङ्गी जयतः ।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति

श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ

तेघरिपाड़ा, पो० नवद्वीप, (नदीय)

सादर सम्भाषणपूर्वक निवेदन—

कलियुग-पावनावतारी स्वयं भगवान् श्रीश्चीनंदन गौरहरि की निखिल भुवन-मङ्गलमयी आविर्भाव तिथि-पूजा (फालगुनी पूर्णिमा) के उपलक्ष्में श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति के व्योगसे उपरोक्त ठिकानेपर आगामी ७ चैत्र, २१ मार्च बुधवारसे १३ चैत्र, २७ मार्च, मंगलवार पर्यन्त सप्ताहकालब्यापी एक विराट महामहोत्सवका अनुष्ठान होगा । इस महदनुष्ठानमें प्रतिदिन प्रवचन, कीर्तन, वक्तुता, इष्ट-गोष्ठी, श्रीविष्णु-सेवा, महाप्रसाद वितरण प्रभृति विविध भक्तयांग याजित होंगे ।

इस उपलक्ष्में श्रीश्चीनवद्वीपधामके अन्तर्गत नौ द्वीपोंका दर्शन तथा तत्त्वस्थान—महात्म्य—कीर्तन एवं नगर-संकीर्तन करते हुए सोलह-कोसकी परिक्रमा होगी । गत वर्ष की तरह इस वर्ष भी श्रीनृसिंहपल्ली, चौपाढाटी, मामगाळी एवं श्रीधाम मायापुरमें शिविरादमें अवस्थान कर निशि-यापन पूर्वक परिक्रमा करनेकी सुच्यवस्था की गयी है ।

धर्मप्राण सज्जन-वृन्द उक्त भक्ति-अनुष्ठानमें सवान्धव योगदान कर समितिके सदस्य-वर्गोंको परमानन्दित एवं उत्साहित करें । इस महदनुष्ठानका गुरुत्व उपलक्ष्मि कर प्राण, अर्थ बुद्धि और वाक्य द्वारा समितिके सेवाकार्यमें सहानुभूति प्रदर्शन कर अनुगृहीत करें ।

इति—१० जनवरी, १९५६ ।

शुद्धभक्त-कृपालेशप्रार्थी—

“सभ्य-वृन्द”

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति ।

दृष्टव्यः—विशेष विवरणके लिये अथवा साहाय्य (दानादि) देनेके लिये त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भूक्तिप्रद्वान केशव महाराजके निकट उपयुक्त ठिकाने अथवा श्रीउद्दारण गौड़ीय मठ, चौमाथा, चन्द्रसुरा (हुगली) के ठिकानेपर लिखें या भेजें ।

जैव-धर्म

(पूर्व प्रकाशित वर्ष १, संख्या ६, पृष्ठ २२५ से आगे)

लाहिड़ी—‘भगवत्तत्त्व मेरी समझमें आगया है। भगवान् ही एक परमतत्त्व हैं। ब्रह्म और परमात्मा उनके अदीन हैं। वे सर्वध्यायी होकर भी अपने अपूर्व श्रीविग्रह द्वारा चित्तजगत्में विराजमान हैं। वे सर्वशक्ति-समन्वित और सचिवदानंदधन पुरुष हैं। समस्त शक्तियोंके अधीश्वर होनेपर भी वे ह्लादिनी-शक्तिके संग-सुखमें सदा विभार रहते हैं। अब कृपाकर आप मुझे जीव-तत्त्वका उपदेश करें।’

बाबाजी—श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें ‘तटस्थशक्ति’ भी एक है। इस शक्तिसे एक ऐसा तत्त्व बहिर्गत होता है जो चिन् जगत् और जड़ जगत् दोनोंमें विचरण कर सके। इस तत्त्वको जीव तत्त्व कहते हैं। जीवका गठन केवल चिन्-परमाणु है। कुछ होनेके कारण वह जड़ जगत्में आवद्ध होनेके योग्य होता है। किन्तु शुद्ध चिन्-गठन होनेके कारण थोड़ासा चिद्-बल प्राप्त करनेसे ही वह चित्तजगत्का निवासी होकर परमानन्द लाभ कर सकता है। जीव दो प्रकारका होता है—बद्ध और मुक्त। चिन् जगत्में रहने वाले जीव मुक्त जीव हैं और माया द्वारा बद्ध होकर जड़ जगत्में आसक्त जीव बद्ध हैं। बद्ध जीवभी दो प्रकार के हैं—उदित-विवेक और अनुदित विवेक। वे मनुष्य जिनमें परमार्थकी चेष्टा नहीं होती तथा पशु-पक्षी—ये अनुदित विवेक बद्धजीव हैं। जो मनुष्य वैष्णव पथका अवलम्बन करने वाले हैं, वे उदित विवेक बद्धजीव हैं, क्योंकि वैष्णवोंके अतिरिक्त और किसीमें भी परमार्थकी सच्ची चेष्टा नहीं होती। इसीलिए शास्त्रमें वैष्णव-सेवा और वैष्णव-सङ्गको सब कर्मोंसे श्रेष्ठ बतलाया गया है। जिस शास्त्रीय अद्वाका अवलम्बन करनेसे उदित-विवेक जीवोंको (वैष्णवोंको) कृष्णनामके भजनमें रुचि उत्पन्न होती है, उसीसे उनमें वैष्णव-सेवा और वैष्णव-सङ्गमें भी रुचि होती है। किन्तु अनुदित-विवेक मानव

शास्त्रीय अद्वा द्वारा कृष्णनाम प्रहण नहीं करते, केवल परम्परागत आचारोंके अनुसार कृष्ण-मूर्तिका अर्चन करते हैं। अतएव इन लोगोंमें वैष्णव-सेवा और सप्तसंगमें रुचि नहीं होती।’

लाहिड़ी—‘कृष्ण-तत्त्व और जीव-तत्त्व समझ गया। अब कृपा कर मायातत्त्व भी समझ दीजिये।’

बाबाजी—माया अचिन् व्यापार है। माया कृष्ण-की एक शक्ति है। इसका नाम अपराशक्ति या बहिरंगा शक्ति भी है। जैसे द्वाया प्रकाशसे दूर रहती है उसी तरह माया भी कृष्ण और कृष्ण-मूर्तिसे दूर रहती है। जड़ जगत्के चौदह भुवन, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और जड़-देहमें माया आमित्वरूप अहंकार पैदा करती है। बद्ध जीवके स्थूल और लिङ्ग (सूक्ष्म) दोनों देह मायिक हैं। मुक्त होनेपर जीवकी चिन् देह निर्मल हो जाती है। जीव जितना ही अधिक मायामें फँसा रहता है, वह कृष्णसे उतना ही अधिक बहिर्मुख होता है। और मायासे जितना ही अलग रहता है, उतना ही अधिक वह कृष्णका साम्नुख्य प्राप्त करता है। बद्धजीवोंके भोगके लिए कृष्णकी इच्छासे मायिक ब्रह्मागड़की सृष्टि होती है। मायिक-जगत् जीवोंका नित्य निवास स्थल नहीं है, बल्कि यह जीवोंके लिये केवल कारागार मात्र है।

लाहिड़ी—‘प्रभो ! अब माया, जीव, और कृष्णके नित्य सम्बन्धके विषयमें बतलाइये।’

बाबाजी—‘जीव अगु चिद् है। और कृष्ण पूर्ण चिन् हैं। अतएव जीव कृष्णका नित्यदास है। यह मायिक जगत् जीवोंका कारागृह है। यहाँ सप्तसंगमे बत्तमें नामका अनुशीलन करते-करते कृष्णकी कृपासे वह चित्तजगत्में अपने सिद्ध चिन्मूरूपमें प्रतिष्ठित हो कर कृष्ण-सेवा-रसका पान करता है। यही तीनों तत्त्वोंका परस्पर निगद्ध सम्बन्ध है। इसका ज्ञान न होनेसे भजन कैसे हो सकता है?’

(कमशः)